सर्वे
भवन्तु सुखिनः

मानव अधिकार

संचयिका

भाग–1

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

मानव अधिकार संचयिका

भाग : 1 **2012**

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाऊस,
कॉपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली –110001,
भारत

प्रकाशक : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाऊस,
कॉपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001,
भारत

© 2012 राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

प्रकाशन तिथि : 10, दिसम्बर, 2012

प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के निजी विचार हैं। राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग या संपादक का इनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्राप्ति स्थान : राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाऊस,
कॉपरनिकस मार्ग,
नई दिल्ली – 110001,
भारत
वेबसाईट : www.nhrc.nic.in
ई–मेल : covdnhrc@nic.in

आवरण छवि – ए.के. श्रीवास्तव
तकनीकी सहायता – उत्पल नारायण सरकार

न्याय में जितनी उदारता की जरूरत है, इतनी ही न्याय की उदारता में है।

—महात्मा गाँधी

23.10.1945

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, भारत

अध्यक्ष

न्यायमूर्ति श्री के. जी. बालाकृष्णन

सदस्य

न्यायमूर्ति श्री जी. पी. माथुर

न्यायमूर्ति श्री बी. सी. पटेल

श्री सत्यब्रत पाल

मानव अधिकार संचयिका

भाग : 1 2012

प्रधान संपादक

आलोक कुमार श्रीवास्तव

संपादक

डॉ0 सरोज कुमार शुक्ल

संपादन सहयोग

रचना मिश्रा

अंजली सकलानी

कम्प्यूटर सहायता

सरिता विजय बहादुर

बबीता

अनुक्रम

				पृष्ठ
•	दो शब्द	:		xiii
•	संपादकीय	:		xv-xvi
प्रथम खंड– समाज				
1.	भारतीय समाज की संकल्पना, सूचना का अधिकार तथा पंचायतें	:	डॉ० सुभाष शर्मा	1–12
2.	समाजिक न्याय, धर्म एवं मानवाधिकार	:	डॉ० वाई. पी. आनन्द	13–20
3.	सामाजिक न्याय, मानवीय संकल्पना और ऐतिहासिक चेतना	:	प्रो० हजारीमयुग सुवदनी देवी	21–28
4.	पर्यावरण, पंचायते, एवं मानवाधिकार	:	डॉ० विनोद शुक्ल	29–35
5.	खाफ़ के खौफ़ में	:	आकांक्षा पारे 'काशिव'	37–39
6.	महिला सशक्तीकरण, पंचायतें तथा मानवाधिकार	:	डॉ० प्रतिभा	41–46
7.	वैश्वीकरण, महिलाएं व मानवाधिकार	:	डॉ० ममता चन्द्रशेखर	47–50
8.	सामाजिक न्याय, प्रशासन तथा मानवाधिकार	:	राजेश प्रताप सिंह	51–56
9.	अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सूचना का अधिकार और मानवाधिकार के अंतरसंबंध	:	बैजनाथ मिश्र	57–63
10.	सूचना का अधिकार और सामाजिक संदर्भ	:	प्रो० योगेश अटल	65–72
11	शैक्षिक दायित्व के निर्वाह में महिलाओं की भूमिका	:	सर्वमित्रा सुरजन	73–77

12	इज्जत के लिए हत्या क्यों	:	डॉ० सुभाष शर्मा	79–92
13	स्त्री विमर्श, भूमण्डलीकरण एवं मानवाधिकार	:	डॉ० स्वाति तिवारी	93–102
14	सामाजिक न्याय तथा मानवाधिकार	:	डॉ० प्रतिभा	103–109
15	सूचना का अधिकार तथा लोकतंत्र	:	लक्ष्मी सिंह	111–118

द्वितीय खंड –मीडिया

16.	हिंदी मीडिया और मानव अधिकार	:	राकेशरेणु	121–125
17.	भारतीय जीवन पद्धति, परम्परा तथा मीडिया	:	डॉ० अमरनाथ 'अमर'	127–129
18.	मीडिया, पंचायतें और मानवाधिकार	:	राकेशरेणु	131–137
19.	सामाजिक बोध, प्रिंट मीडिया तथा मानवाधिकार	:	तरूशिखा सुरजन	139–144
20.	सुशासन का लक्ष्य, मानवाधिकार और पत्रिकाएं	:	डॉ० अनीता सिंह	145–151
21.	सूचना के अधिकार का भविष्य : एक मूल्यांकन	:	डॉ० प्रतिभा	153–159

तृतीय खंड – साहित्य

22.	भोजपुरी साहित्य में मानवाधिकार की संकल्पना	:	प्रो० अरूणेश 'नीरन'	163–169
23.	सूचना का अधिकार और साहित्य	:	प्रो० अरूणेश 'नीरन'	171–175
24.	साहित्य, मानवाधिकार और पंचायतें	:	डॉ० कुमुद शर्मा	177–183
25.	साहित्य, परम्परा और मानवाधिकार	:	प्रो० शंभुनाथ	185–196

26.	मानवाधिकार का दार्शनिक आधार : पाश्चात्य संदर्भ	:	डॉ0 सरोज कुमार वर्मा	197–209
27.	सामाजिक विकास के साहित्यिक संदर्भः एक वैचारिकी	:	डॉ० कुसुम खेमानी	2011–216
28.	समाजिक न्याय की कसौटी तथा गांधी दर्शन	:	डॉ० पारमिता साहा	217–221
29.	मानव अधिकारों के संरक्षण व संवर्धन में पत्र–पत्रिकाओं की भूमिका	:	राकेशरेणु	223–227

दो शब्द

मानव अधिकारों का वैचारिक दर्शन सार्वभौमिक है तथा उसकी पृष्ठभूमि मानव मात्र से जुड़ी हुई है। इसकी परिधि में मानवीय संवदेनाओं का अस्तित्व एवं उसमें निहित क्षमताओं के सतत् विकास का भाव विद्यमान है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर भारत में राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग की स्थापना की गयी है ताकि समकालीन परिप्रेक्ष्य में मानव मूल्यों एवं आदर्शों की प्रभावी ढंग से रक्षा की जा सके।

आयोग का अभीष्ट जहां एक ओर देश के शोषित, पीड़ित, उपेक्षित तथा हाशिए पर स्थित लोगों को उनके मानव अधिकारों से परिचित कराना है वहीं दूसरी ओर केन्द्र व राज्य सरकार से जुड़े प्रतिनिधियों एवं नीति–निर्माताओं को इस मानव केन्द्रित दृष्टि के प्रति संवेदनशील एवम् विचारशील भी बनाना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु आयोग द्वारा अपने कार्यक्रमों एवं संगोष्ठियों को आम जन की भाषा में आयोजित किया जाना एक बहुत बड़ा कदम है तथा एक नए युग का प्रारंभ भी।

प्रस्तुत पुस्तक **मानव अधिकार संचयिका** आयोग द्वारा मानव अधिकारों से जुड़े महत्वपूर्ण एवं समसामयिक विषयों पर आयोजित विभिन्न राष्ट्रीय संगोष्ठियों में देश के वरिष्ठ विद्वानों, बुद्धिजीवियों, वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारियों, पत्रकारों, गैर–सरकारी संगठनों के प्रतिनिधियों तथा अकादमिक क्षेत्र से जुड़े हुए विशेषज्ञों द्वारा पढ़े गए लेखों का संकलन है।

मेरा यह विश्वास है कि प्रस्तुत पुस्तक मानव अधिकारों के क्षेत्र में अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों, शोधार्थियों, मीडिया तथा गैर सरकारी संगठन के प्रतिनिधियों के लिए मील का पत्थर (Milestone) सिद्ध होगा।

(न्यायमूर्ति श्री के.जी. बालाकृष्णन)

सम्पादकीय

कोई भी समाज अपनी चेतना को निरंतर विचार–विमर्श व बहस के बिना जीवन्त नहीं बनाये रख सकता है। आयोग ने इस दिशा में निरंतर ध्यान दिया है कि मानव अधिकारों के प्रति जागरूकता बढ़े और भारत के कोने–कोने में आम आदमी तक इनकी जानकारी पहुंचाई जाए ताकि वह उससे लाभान्वित हो। कहना न होगा कि मानव जीवन में गरिमा को स्थापित करना आयोग का प्रधान उद्देश्य है तथा इसके प्रति यह वचनबद्ध है। विचार–विनिमय, विमर्श, परामर्श व संवाद ही वह मुख्य माध्यम है जो इस लक्ष्य को समझने और प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं।

आज, मानव अधिकार केवल बौद्धिक चर्चा का विषय न रह कर सामाजिक परिवर्तन का पैमाना भी बन गया है। भारतीय समाज में व्याप्त विषमता, भेदभाव और इन सबके चलते गैर बराबरी के कारण समाज का एक बड़ा तबका पिछड़ा बना हुआ है और उसे वे अधिकार और सुविधायें नहीं मिल पाती हैं जो उनके विकास के लिए जरूरी हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उन वर्गों के लोग समाज में हाशिये पर ही बने रहते हैं। शिक्षा, तकनीकी और आर्थिक उद्यमों का लाभ भी उन तक पूरी तरह नहीं पहुंच पाता है। इन समस्याओं का मानव अधिकारों के साथ सीधा संबंध है। दुर्भाग्यवश, समाज में इन प्रश्नों के बारे में अपेक्षित चेतना और जानकारी का अभाव बना हुआ है। इस दृष्टि से इस संकलन का विशेष महत्व है।

विगत वर्षों में आयोग ने मानव अधिकारों को केन्द्र में रख कर देश के विभिन्न भागों में कई परिचर्चाओं का आयोजन कराया। इन परिचर्चाओं में देश के विभिन्न भागों से पधारे बुद्धिजीवियों, पत्रकारों, समाज सेवियों तथा प्रशासनिक अधिकारियों ने अपने विचारों और अनुभवों को साझा किया था जो आपके समक्ष एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत है। यह पुस्तक जहां एक ओर मानव अधिकारों से जुड़े संवेदनशील मुद्दों को केन्द्र में रखती है। वहीं दूसरी ओर मानव अधिकार के क्षेत्र में काम करने वाले विद्यार्थियों, शोधार्थियों एवं बुद्धिजीवियों के लिए स्थायी संदर्भ का भी कार्य करेगी।

समाज, मीडिया और साहित्य इन तीन उपखंडों मे विभाजित इस संकलन में सम्मिलित लेख मानव अधिकारों को एक व्यापक फलक पर स्थापित करते हैं। समाज पर केन्द्रित उपखंड में संकलित निबंध न्याय, सूचना, पर्यावरण तथा महिलाओं से जुड़े मानव अधिकार के मुद्दों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। ये मुद्दे समाज के आधारभूत प्रश्नों

को सम्बोधित करते हैं। इनमें लेखकों ने न केवल वर्तमान दशा का चित्रण किया है बल्कि समस्याओं के समाधान की दिशा में संकेत भी किया है। इनमें प्रस्तुत विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि समाज और संस्कृति स्थिर न होकर गत्यात्मक होते हैं। उनमें होने वाले परिवर्तनों के प्रति संवेदनशील होना आवश्यक है। आधुनिकीकरण और वैश्वीकरण के दौर में भारतीय समाज में भी अनेक परिवर्तन हो रहे हैं जिन्हें नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता। महिलाओं के सशक्तीकरण के प्रयासों और सूचना के अधिकार के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में गंभीर किस्म के बदलाव आ रहे हैं जो सामाजिक ढांचे और विभिन्न वर्गों की सामाजिक भागीदारी को भी प्रभावित कर रहे हैं। इस दृष्टि से पुस्तक में संकलित निबंध बड़े उपयोगी हैं।

इसके दूसरे उपखंड में मीडिया पर केन्द्रित रचनायें रखी गयी हैं। आज के युग में मीडिया जनतंत्र का एक महत्वपूर्ण स्तंभ बन चुका है और सूचना संचार क्रांति के फलस्वरूप प्रिंट और इलेक्ट्रानिक मीडिया का देश के कोने–कोने में विस्तार हुआ है। अब आम आदमी देश के कोने–कोने में होने वाली घटनाओं से रूबरू हो जाता है। संकलित निबंधों में सामाजिक बोध, सुशासन तथा पंचायत जैसे प्रश्नों पर विचार किया गया है।

पुस्तक का तीसरा उपखंड साहित्य से जुड़ा है। कहना न होगा कि साहित्य का जीवन से बड़ा गहरा रिश्ता है। वह जीवन का प्रतिबिम्ब ही नहीं होता है वरन् जीवन को प्रेरित करने वाला स्रोत भी है। भारतीय साहित्य की समग्रता और समष्टिबोध की अवधारणा मानव अधिकार की आधुनिक अवधारणा के काफी करीब है। संकलन के विद्वान लेखकों ने साहित्य, सामाजिक विकास, परम्परा, दर्शन और गांधी के अन्तर्सम्बन्धों की समीक्षा की है और यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि मनुष्यता की आहट सहित्य में प्राचीन काल से ही विद्यमान है और आधुनिक संदर्भ में उसे पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है। पुस्तक की संकल्पना का उद्देश्य मानव अधिकार विषयक चिंतन को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में सम्वर्धित करना है और इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रयास सफल कहा सकता है।

इस सार्थक पहल के लिए मैं एक बार पुनः आयोग के माननीय अध्यक्ष महोदय, माननीय सदस्यगणों के साथ–साथ महासचिव एवं संयुक्त सचिव के प्रति आभार व्यक्त करते हुए उन सभी रचनाकारों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

(डॉ0 सरोज कुमार शुक्ल)

प्रथम खंड – समाज

भारतीय समाज की संकल्पना, सूचना का अधिकार तथा पंचायतें*

'डॉ.सुभाष शर्मा

सूचना का अधिकार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का विस्तार और शासन की पारदर्शिता का अविच्छिन्न अंग है। यह एक आधुनिक अवधारणा है। मगर शासन–प्रशासन पर जनता के विवेकसम्मत नियंत्रण और पारदर्शिता एवं उत्तरदायित्व के नाना रूप प्राचीन काल में भी प्रचलित थे। उदाहरणार्थ, मनुस्मृति में कहा गया है :

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्ट फल भोक्ता हि राजा धर्मेण युज्जते।।

अर्थात् राजा का सर्वोच्च कर्तव्य अपनी प्रजा का संरक्षण है; जो राजा अपनी प्रजा से कर प्राप्त करता है तथा उसका संरक्षण करता है, वह धर्म के अनुसार कार्य करता है। इसीलिए भारतीय परम्परा में 'राजधर्म' की अवधारणा मौजूद है। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (जो संस्कृत भाषा में कश्मीर का इतिहास है) में स्पष्ट उल्लेख किया है कि शासन द्वारा किसी नागरिक की जमीन उसकी सहमति के बिना नहीं ली जाये, यहां तक कि मंदिर निर्माण के लिए भी नहीं ली जाये। वहीं दूसरी ओर भू–अर्जन अधिनियम 1894 के तहत (जिसे ब्रिटिश शासन ने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति हेतु बनाया था) आजकल 'लोक उद्देश्य के नाम पर भूस्वामी की सहमति की परवाह किये बिना औद्योगिक घरानों, भवन निर्माताओं और अन्य निजी प्रतिष्ठानों के लिए औने–पौने दाम में किसानों की जमीन का अधिग्रहण राज्य सरकार द्वारा कर लिया जाता है भले किसान प्रतिरोध करते हैं (जैसे नन्दीग्राम और सिंगूर में)।

*** कोचीन (केरल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

अथर्ववेद में राजा और प्रजा दोनों पर नियंत्रण की बात कही गयी है– 'ब्रह्मणचर्मेणा तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'। फिर 'महाभारत' में कहा गया है 'न हि मनुषात्परतरं किंचिदस्ति' (मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है)। 'कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में विस्तार से कहा है :

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

अर्थात् प्रजा के सुख में राजा का सुख होता है और प्रजा के हित में राजा का हित। जो अपने को प्रिय हो, वह राजा का हित नहीं है। जो प्रजा को प्रिय हो, वही उसका हित है। इससे वह ध्वनित होता है कि नागरिकों को पर्याप्त अर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

प्राचीन भारत में 'सभा' और 'समिति' जैसी जन संस्थाए (वैशाली के गणतंत्र में) विद्यमान थीं जहां बौद्धिक, राजनैतिक और सामाजिक–सांस्कृतिक विचार –विमर्श निरंतर होते रहते थे। वहां शासक के कृत्यों की समालोचना आम बात होती थी। राजा जन संस्थाओं से परामर्श लेकर ही तमाम निर्णय करता था। सम्राट अशोक महान के द्वारा लिखवाये गये शिलालेख शासक का जनता के प्रति उत्तरदायित्व का अप्रतिम उदाहरण है।

प्राचीन और मध्यकाल में अधिकतर राजाओं–बादशाहों के यहां जनता दरबार जनता की समस्याओं को सुनने के लिए आयोजित किये जाते थे। 'दीवाने आम' और 'दीवाने–खास' ऐसी शासन–व्यवस्थाओं में मौजूद होते थे। अकबर जैसे योग्य शासकों के दरबार में कोई भी व्यक्ति रस्सी खींचकर घंटा बजाकर अपनी फरियाद बादशाह से सीधे कर सकता था और बादशाह व्यस्तता के बावजूद उसे तत्काल सुनने का उपक्रम करता था अर्थात् आम आदमी को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी न किसी रूप में मिली थी। प्राचीन और मध्यकाल में भी गाँवों में पंचायतें कार्यरत थीं अर्थात् गाँव के लोगों द्वारा चुने हुए पाँच पंचों की सभाएं किसी समस्या का समाधान निकालती थीं। यह 'ग्राम लोक–राज्य का शासन' था (महात्मा गाँधी) मगर ब्रिटिश शासन ने कठोर कर पद्धति से इस स्थानीय व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास 1921 में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं/समाजसेवियों ने किया था। मगर नैनीताल जैसे कुछ क्षेत्रों में पंचायतें बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों पर भी फैसले देने लगीं जिसे सुनकर महात्मा गाँधी परेशान हो गये। सो उन्होंने ग्रामसेवकों के मार्गदर्शन के लिए दस नियम सुझाये ('ग्राम स्वराज्य') :

(क) प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की लिखित इजाजत के बिना कोई पंचायत कायम न की जाये।

(ख) कोई भी पंचायत पहले–पहल ढिंढोरा पिटवाकर बुलाई गई सार्वजनिक सभा में चुनी जानी चाहिए।

(ग) तहसील कमेटी द्वारा उसकी सिफारिश की जानी चाहिए।

(घ) ऐसी पंचायत को फौजदारी मुकदमे चलाने का अधिकार नहीं होना चाहिए।

(ड) वह दीवानी मुकदमे चला सकती है यदि दोनों पक्ष अपने झगड़े पंचायत के समक्ष रखें।

(च) किसी भी पंचायत को जुर्माना करने की सत्ता नहीं होनी चाहिए; उसके दीवानी फैसलों के पीछे एकमात्र बल उसकी नैतिक सत्ता, कड़ी निष्पक्षता और संबंधित पक्षों का स्वेच्छापूर्ण पालन ही है।

(ज) अपराध करने वालों का कुछ समय के लिए सामाजिक या दूसरी तरह का बहिष्कार नहीं होना चाहिए।

(झ) हर एक से यह आशा रखी जायेगी कि वह :

(i) अपने गाँव के लड़के–लड़कियों की शिक्षा की ओर ध्यान दे;

(ii) गाँव की सफाई का ध्यान रखे;

(iii) गाँव की दवा आदि की जरूरत पूरी हो;

(iv) गाँव के कुओं या तालाबों की रक्षा और सफाई का काम करे;

(v) तथाकथित अस्पृश्यों की उन्नति और दैनिक आवश्यकताएं पूरी करने का प्रयत्न करे।

(ञ) जो पंचायत बिना किसी सही कारण के अपने चुनाव के छः महीनों के भीतर नियम में बताई गई शर्तें पूरी न करे या दूसरी तरह से गाँव वालों की सद्भावना खो दे या प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी में उचित मालूम होने वाले किसी कारण से निन्दा की पात्र ठहरे, तो उसे तोड़ दिया जाये और उसकी जगह पर दूसरी पंचायत चुन ली जाये।

महात्मा गाँधी जी 'मेरे सपनों का भारत' में ऐसी व्यवस्था चाहते थे, जिसमें गरीब से गरीब लोग भी यह महसूस करेंगे कि वह उनका देश है जिसके निर्माण में

उनकी आवाज का महत्व है।' यह आवाज अभिव्यक्ति, असहमति और सूचना के अधिकार की द्योतक है। जब यह आवाज उठे, तो सत्ता उसे ध्यान से सुने और उस पर न्याय–सम्मत कार्रवाई करे। गांधी जी जब 'स्वराज' शब्द को प्रयोग करते थे तो उसके चार प्रमुख आयाम थेः पहला, शासन लोकसम्मति के अनुसार हो, लोकसम्मति का निश्चय देश के सभी वयस्क मतों के जरिये हो, मगर वे शारीरिक श्रम करते हों और मतदाता सूची में उनके नाम पर दर्ज हों। सच्चे स्वराज की प्राप्ति सत्ता के दुरूपयोग का 'प्रतिकार करने की क्षमता' से संभव है अर्थात् जनता में इस बात का ज्ञान पैदा करके स्वराज प्राप्त किया जा सकता है कि 'सत्ता पर कब्जा करने और उसका नियमन करने की क्षमता' उसमें है। गांधी जी ने बार–बार स्पष्ट किया था कि असली स्वराज का अर्थ है 'सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने के लिए लगातार प्रयास करना' चाहे वह नियंत्रण विदेशी सरकार का हो या स्वेदशी सरकार का क्योंकि अपनी सभ्यता की आत्मा को अक्षुण्ण रखना है। दूसरा, स्वराज का अर्थ' आत्मसंयम और आत्मशासन' भी है। अंग्रेजी का 'इंडिपेंडेंस' शब्द निरंकुश आजादी या स्वच्छंदता को बोध देता है, वैसा अर्थ स्वराज का नहीं है। तीसरा, स्वराज का तात्पर्य 'सब लोगों का राज्य, न्याय का राज्य है।' पूर्ण स्वराज का मतलब वह राजा–प्रजा, स्त्री–पुरूष, अमीर–गरीब, हिन्दू मुस्लिम आदि सबके लिए समान होगा। गांधी जी मानते थे कि जनता को अपने सच्चे हित का ज्ञान होना चाहिए। चौथा, सच्ची लोकसत्ता या जनता का स्वराज कभी भी असत्यमय और हिंसक साधनों से नहीं आ सकता। गांधी जी के शब्दों में, ''अहिंसा पर आधारित स्वराज में लोगों को अपने अधिकारों का ज्ञान न हो, तो कोई बात नहीं, लेकिन उन्हें अपने कर्तव्यों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।'' उनके अनुसार सच्चे अधिकार वे ही हैं जो अपने कर्तव्यों का उचित पालन करके प्राप्त किये गये हों। उनका मानना थाः 'अहिंसक स्वराज में न्यायपूर्ण अधिकारों का किसी के भी द्वारा कोई अतिक्रमण नहीं हो सकता और उसी तरह किसी को कोई अन्यायपूर्ण अधिकार नहीं हो सकते।'

गांधी जी का स्पष्ट मानना था कि 'लोकतंत्र में लोगों को चाहिए कि वे सरकार की कोई गलती देखें, तो उसकी तरफ उसका ध्यान खीचें और संतुष्ट हो जायें। अगर वे चाहें, तो अपनी सरकार को हटा सकते हैं। कहने का आशय यह है कि जनता जागरूक और सतर्क रहे। वह सरकार के कार्यों की निगरानी रखे और सरकार से सवाल करे कि कोई चीज/घटना क्यों और कैसे हो रही है ? यदि वह सरकार के जवाब से संतुष्ट न हो, तो वह सरकार को गिरा सकती है?

इसीलिए गांधी जी कहते थे–' सच्ची लोकशाही केन्द्र में बैठे हुए बीस आदमी

नहीं चला सकते। वह तो नीचे से हर एक गांव के लोगे द्वारा चलायी जानी चाहिए।' ('हरिजन', 18 जनवरी 1948) इस प्रकार वह ग्रामीण समाज के आम लोगों की सत्ता में भागीदारी के पक्षधर थे। मगर यदि बहुसंख्यक जनता ही नीतिभ्रष्ट और स्वार्थी हो जाये तो सरकार अराजकता की स्थिति पैदा करेगी।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि गांधी जी के सक्रिय राजनीति में भाग लेने के बाद ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन (1930) में 'पूर्ण स्वराज' को अपना लक्ष्य घोषित किया और यह संकल्प लिया कि 26 जनवरी को प्रतिवर्ष 'स्वतंत्रता दिवस' मनाया जायेगा। उस अधिवेशन में अहिंसात्मक तरीके से स्वाधीनता और पूर्ण विकास के अधिकार पर जोर दिया गया। अगले साल कराची अधिवेशन (1931) में कांग्रेस ने बीस अधिकारों के संकल्प के साथ वाणी एवं प्रेस की स्वतंत्रता को मूलाधिकार घोषित किया। वहीं यह भी प्रस्ताव पारित किया गया कि पंच फैसले के द्वारा विवादों के निपटारे के लिए उपयुक्त तंत्र विकसित किया जाये। जाहिर है यह गाँवों में पंचायतों की स्थापना की ओर संकेत था। इसके अलावा सैनिक खर्च को आधा करने एवं नागरिक प्रशासन के विभागों के व्यय में कमी करने के भी प्रस्ताव पारित किये गये। उन प्रस्तावों में एक महत्वपूर्ण मूलाधिकार यह भी था कि कानून की विहित रीति के अलावा अन्य तरीके से किसी भी व्यक्ति को स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जायेगा; उसके आवास/सम्पत्ति में न प्रवेश किया जायेगा और न उसे जब्त किया जायेगा।

यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 1970 के दशक से ही कई स्वैच्छिक संस्थाएं–लोकसत्ता, पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज, एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स, पीपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स कॉमनवेल्थ हयूमन राइट्स, इनिशियेटिव, कॉमन कॉज, मजदूर किसान शक्ति संगठन आदि–शासन के विभिन्न स्तरों (केन्द्र, राज्यों, स्थानीय) के कार्यकलापों के बारे में जनता जानने के हक के बारे में संघर्ष करती रही हैं। उनका यह मानना रहा है कि जब तब आम लोगों को यह नहीं मालूम होगा कि शासन प्रशासन क्या कर रहा है, क्यों कर रहा है, कैसे कर रहा है, किसके लिए कर रहा है, कब करता है और कब नहीं करता, तब तक लोकतंत्र महज औपचारिक रहेगा और 'तंत्र' 'लोक' पर हावी रहेगा। अर्थात् सत्ता में जनता की सहभागिता नहीं होने से वह शासन लोग शाही नहीं बन सकेगा। शासन–व्यवस्था तभी जनोन्मुखी मानी जायेगी तब सत्ता लोगों से छिपाने की बजाय सूचनाएं साझा कर, उनकी पसन्दों और प्राथमिकताओं को अपनी नीतियों में शामिल करें। सूचना प्रथमतः और अन्ततः शक्ति होती है और जो ऐसी शक्ति का सही समय, स्थान और सन्दर्भ में

उपयोग करता है, वह सच्ची स्वतंत्रता का आनंद उठाता है। इसीलिए प्रो. अमर्त्य सेन ने पाँच स्वतन्त्रताओं की बात की है :

(क) सामर्थ्यदायी स्वतंत्रता (इनेबलिंग फ्रीडम)

(ख) राजनैतिक स्वतंत्रता (पोलिटिकल फ्रीडम)

(ग) आर्थिक स्वतंत्रता (इकोनॉमिक फ्रीडम)

(घ) पारदर्शिता स्वतंत्रता (ट्रांसपैरेंसी फ्रीडम)

(ड़) सुरक्षा स्वतंत्रता (प्रोटेक्शन फ्रीडम)

शायद इसी भाव को महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'गीतांजलि' में इस तरह कह रह थेः

'मन हो जहाँ स्वतंत्र
और हो मस्तक ऊँचा
.....
स्वतंत्रता के उस स्वर्ग में
मेरे पिता !
जगने दो मेरे देश को।'

उल्लेखनीय है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के विध्वंस के बाद जब विश्व के तमाम देशों ने वैचाारिक मंथन के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की, तो उसके प्रथम सत्र (1946) में ही सूचना की स्वतंत्रता को मौलिक मानवाधिकार घोषित किया गया उसे ही स्वतंत्रता की कसौटी बनाया गया। बाद में संयुक्त राष्ट्र के 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' (1948) में सुस्पष्ट किया गया कि प्रत्येक को, सीमांतो के बावजूद, विभिन्न माध्यमों से सूचनाएं और विचार माँगने, पाने और देने का अधिकार होगा। तत्पश्चात् 1966 में 'नागरिक एवं राजनैतिक अधिकारों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा' में स्पष्ट किया गया कि भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के तहत सूचना का अधिकार अन्तर्निहित है। इसी तरह उत्तर प्रदेश शासन बनाम राजनारायण (1975), मेनका गांधी बनाम भारत संघ (1978) तथा एस.पी. गुप्ता बनाम भारत संघ (1982) में भारतीय सर्वोच्चय न्यायालय ने यह व्याख्या दी कि भारतीय संविधान की धारा 21 में वर्णित 'जीने के अधिकार' में सूचना का अधिकार सम्मिलित है। सर्वोच्य न्यायालय के इन निर्णयों में निम्नलिखित व्याख्याएं दी गई :

पहली, जिस शासन–व्यवस्था में जनता के सभी प्रतिनिधि अपने कार्यों के लिए

उत्तरदायी हैं, वहां शायद ही कोई चीज गोपनीय हो सकती है।

दूसरी, जनता को प्रत्येक सार्वजनिक कार्य को, प्रत्येक चीज को, जो सार्वजनिक रूप में सार्वजनिक कर्मचारियों द्वारा की जाती है, जानने का अधिकार है।

तीसरी, अधिकारियों द्वारा अपने कार्यों की व्याख्या करना या उसे उचित ठहराना, अत्याचार और भ्रष्टाचार के विरूद्ध उनका मुख्य बचाव है।

चौथी, जिस समाज ने लोकतंत्र को सैद्धांतिक आस्था के रूप में स्वीकार किया है, उस समाज के सभी नागरिकों को यह जानने का अधिकार है कि उनकी सरकार क्या कर रही है।

पाँचवी, यदि सरकार के कार्य संचालन में गोपनीयता बरती जायेगी तथा जनता को छानबीन करने की गुंजाइश नहीं होगी, तो उत्पीड़न, भ्रष्टाचार तथा सत्ता के दुरूपयोग को बढ़ावा मिलेगा।

छठवीं, अपवादस्वरूप, भारत की अखंडता, सम्प्रभुता एवं सुरक्षा से संबंधित मामलों, कैबिनेट के कागजात, सरकारी नीतियों के निर्धारण से संबंधित कागजात का खुलासा जनहित के कागजात, सरकारी नीतियों के निर्धारण से संबंधित कागजात का खुलासा जनहित में नहीं किया जा सकता। इन निर्णयों के अलावा राजस्थान में 1997 में अरूणा राय के नेतृत्व में मजदूर किसान शक्ति संगठन ने स्थानीय स्तरों पर गाँवों–पंचायतों में सार्वजनिक निर्माण कार्यों का स्थल–निरीक्षण किया, तो मालूम हुआ कि उनकी गुणवत्ता खराब होने और अधिक व्यय होने के साथ–साथ ऐसे कई मजदूरों के द्वारा काम करने और मजदूरी पाने के कागजात बनाये गये थे जिन्होंने न तो उनमें काम किया था और न कोई मजदूरी प्राप्त की थी। इस फर्जी श्रमिक सूची (मस्टर रोल) का भंडाफोड़ होने से गाँव के लोगो की आँखें खुली कि एक ओर वांछित गुणवत्ता का कार्य नहीं हुआ और दूसरी ओर गलत भुगतान भी हुआ। बाद में जगह–जगह 'जन सुनवाई' हुई और उससे कई पोलें खुलीं जिनमें भ्रष्टाचार ने शिष्टाचार का रूप ले लिया था, या अधिकारियों/जन–प्रतिनिधियों ने अपने अधिकारों के दुरूपयोग किया था, अथवा किसी नागरिक को उसका हक पाने से वंचित किया गया था आदि। अथवा किसी नागरिक का पुलिस प्रशासन द्वारा उत्पीड़न किया गया था, सो उसने एक नारा लगाया गया– 'हमारा पैसा, हमारा हिसाब' स्थानीय जनता को मिलना चाहिए और तभी शासन–प्रशासन उत्तरदायी बनाया जा सकता है। इसके फलस्वरूप भ्रष्टाचार कम होगा और जनता का सशक्तिकरण भी होगा। कालान्तर में चारों ओर बढ़ते जन दबाव के कारण 2002 में सूचना की स्वतंत्रता अधिनियम पारित हुआ मगर उसके नियम नहीं

बनाये गये थे, सो उसका कार्यान्वयन सरजमीं पर नहीं हुआ। सो 2004 में उसे नयी सरकार ने रद्द करते हुए सूचना का अधिकार अधिनियम (2005) बनाया जो ज्यादा व्यापक, शक्तिशाली एवं कारगर रहा है। उसे 12 अक्तूबर, 2005 से पूरे देश में (जम्मू कश्मीर को छोड़कर) लागू कर दिया गया। इसकी धारा 2 (एफ) के तहत लोक प्राधिकार की परिभाषा में भारतीय संविधान, संघ सरकार या राज्य सरकार द्वारा निर्मित किसी कानून या सक्षम सरकार द्वारा निर्मित अधिसूचना या आदेश के तहत गठित सभी प्राधिकारों, निकायों, स्वशासन संस्थाओ आदि को शामिल कर लिया गया। इसमें सक्षम सरकार द्वारा जिन निकायों या स्वैच्छिक संस्थाओं को पूर्णतः या अंशतः निधि प्रदान की जाती है, उन्हें भी शामिल कर लिया गया है। इस कानून की विशेषता है कि कोई भी नागरिक मात्र 10 रुपये का शुल्क देकर बिना कारण बताये सार्वजनिक प्राधिकार से कोई सूचना ले सकता है।

पंचायतों को संविधान में 73वें और 74वें संशोधनों के जरिये तमाम आर्थिक एवं प्रशासनिक अधिकार दिये गये तथा उन्हें केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों से हटकर स्थानीय स्वशासन के रूप में शासन के तीसरे स्तर पर मान्यता और शक्ति प्रदत्त की गई है। तभी महिलाओं को पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण दिया गया। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो और जनता को छोटे–छोटे हितों की पूर्ति के लिए दर–दर, दूर तक और देर तक न भटकना पड़े। दूसरे, त्रिस्तरीय ढाँचे में ग्राम पंचायत, ब्लॉक पंचायत समिति और जिला पंचायतों में चुने गये जन–प्रतिनिधियों (क्रमशः मुखिया/प्रधान/सरपंच, ब्लॉक प्रमुख और अध्यक्ष) के नेतृत्व में उत्तरदायी प्रशासन से तमाम सुविधाएं समय पर प्राप्त हो सकें। ऐसा पाया गया है कि जन प्रतिनिधियों के न रहने पर स्थानीय सरकारी कर्मचारी जनता का दोहन–शोषण करते रहे हैं। जैसा कि जॉन स्टुअर्ट मिल ने (1861 में) ठीक ही कहा था :– जनता दूरस्थ तानाशाह की अपेक्षा स्थानीय अत्याचारी के हाथों ज्यादा शोषित होती है।

जहां तक पंचायतों से सूचनाएं प्राप्त करने का सवाल है, इसमें निम्नलिखित कठिनाइयाँ सामने आती हैं। पहली समस्या यह है कि हिंदी प्रदेशों में ग्राम पंचायतों का अस्तित्व सक्रिय रूप से नहीं दिखता। प्रायः उनके भवन निर्मित नहीं हैं। यदि कहीं निर्मित भी हैं, तो वे दैनिक कार्यों के सक्रिय केंद्र नहीं बन सके हैं। वहां ग्राम प्रधान/मुखिया/सरपंच और पंचायत सचिव नियमित रूप से उपस्थित नहीं होते। इसके अलावा वहां अभिलेखों का रखरखाव नहीं है। फटे–पुराने अभिलेख जैसे कुटुम्ब पंजी, योजना पंजी, अद्यतन नहीं है। प्रायः योजनाओं का लेखा–जोखा भी न तो अद्यतन रहता है और न ही सही रहता है। यह भी उल्लेखनीय है कि राज्यों के

पंचायती राज विभाग (जो कहीं–कहीं स्वतंत्र है, तो कहीं–कहीं ग्रामीण विकास विभाग के साथ संबद्ध हैं) से राज्यादेश, सर्कुलर आदि जिला पंचायत को प्रायः विभिन्न योजनाओं की निधियों को दुरूपयोग करते हैं। सो व्यवहार में वे सही सूचनाएं नहीं देते हैं। मुझे अपने गांव (उत्तर प्रदेश) का खास अनुभव हैं जहां और उसमें ग्राम पंचायत के मुखिया, पंचायत सचिव, सरकारी अधिकारी–कर्मचारी तथा दलाल के हिस्से होते हैं। उत्तर प्रदेश सरकार ने ऐसे फर्जी पेंशनधारियों के बारे में स्वयं स्वीकार किया है और कई लोगों के विरूद्ध कार्रवाई भी की है जबकि कई अभी भी अवैध और अनैतिक रूप से पेशन ले रहे हैं। सूचना का अधिकार इस मामले में ज्यादा कारगर सिद्ध नहीं हुआ।

ऐसा महसूस किया जाता है कि सूचना का अधिकार सही मायने में पंचायतों में लागू करने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये जाये :

(क) केंद्र या राज्य के सभी विभागों के जिन कार्यों का कार्यान्वयन किसी गांव में शुरू किया जाये, उनकी लिखित जानकारी (विस्तृत ब्योरे के साथ) संबंधित ग्राम पंचायतों को अनिवार्य रूप से विभागों द्वारा दी जाये और ग्राम पंचायते उन्हें एक पंजी में संधारित करें।

(ख) ग्राम पंचायतें स्थानीय सूचना केंद्र के रूप में भी कार्य करें जहां से नागरिक सभी जरूरी सूचनाएं समय–समय पर ले सकें।

(ग) सभी ग्राम पंचायतों का स्थायी भवन बनाया जाये, उसमें ग्राम प्रधान/मुखिया/सरपंच एवं पंचायत सचिव नियमित रूप से उपस्थित होकर कार्य करें और सूचन देने के लिए दिन निर्धारित हो।

(घ) ग्राम सभा की बैठकें नियमित रूप से और पारदर्शी तरीके से आयोजित की जाये। पूरे राज्य स्तर पर सभी ग्राम सभाओं की आम सभा की त्रैमासिक तिथियां निर्धारित हों– कोई छुट्टी पड़ने पर अगले कार्यदिवस में उक्त बैठक आयोजित देने की प्रक्रिया की जाये।

(ड) सूचना के अधिकार के सही उपयोग के लिए स्वैच्छिक संस्थाएं प्रचार–प्रसार करके जनजागरण करें। वे अनपढ़ और गरीब लोगों को आवेदन देने की प्रक्रिया आदि में सहायता दें।

(च) जिला और ब्लॉक स्तर पर बनी वेबसाइटों पर पंचायतों की निधियाँ, योजनाओं आदि का अद्यतन ब्योरा हो।

(छ) ग्राम पंचायतों द्वारा चलायी जा रही सभी विकास योजनाओं के स्थल पर कार्यों के प्राक्कलनों का ब्योरा बोर्ड पर लिखा जाये।

(झ) स्व सहायता समूहों, ग्राम पंचायतों और स्थानीय/प्रशासन के बीच खुला एवं कारगर समन्वय एवं संवाद कायम हो जिससे सूचना के अधिकार को व्यवहार में सही तरीके से लागू किया जा सके।

(ट) प्राप्त सूचनाओं के आधार पर मिली गड़बड़ियों के लिए दोषी जन–प्रतिनिधियों, अधिकारियों–कर्मचारियों, दलालों आदि के विरूद्ध प्रशासन कड़ी कार्रवाई कालबद्ध और पारदर्शी तरीके से करे। ऐसे प्रधानों/सरपंचों/मुखियों के वित्तीय अधिकार छीनने से लेकर उन्हें पदच्युत करने और फिर से चुनाव कराने की पारदर्शी एवं त्वरित प्रक्रिया शुरू की जानी चाहिए।

'मनरेगा' (महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना) में आये दिन नाना प्रकार की गड़बड़ियाँ उजागर हो रही हैं जिनमें कार्य की गुणवत्ता की कमी, फर्जी मस्टर रोल, न्यूनतम मजदूरी का भुगतान न होना, भुगतान मे विलम्ब होना या कटौती करना, बिना काम किये राशि हड़पना, स्थानीय बेरोजगार युवकों को न रोजगार उपलब्ध कराना और न बेरोजगारी भत्ता देना आदि प्रमुख कमियाँ हैं। विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि केंद्र और राज्य सरकार की विभिन्न विकास योजनाओं के कार्यान्वयन को सबसे पहले ब्लॉक के अधिकारियों/कर्मचारियों के जिम्मे किया गया जिससे वे प्रमुखतः 'ठेकेदार' बन गये। बाद में उनका विकेन्द्रीकरण ग्राम पंचायतों के स्तर पर जनप्रतिनिधियों को शक्तियां देकर किया गया सो अधिकतर ग्राम प्रधान/मुखिया/सरंपच 'नये ठेकेदार' बन गये हैं। पहले जब ग्राम पंचायतों को वित्तीय अधिकार नहीं दिये गये थे, और उनके जरिये विकास योजनाओं का कार्यान्वयन नहीं कराया जा रहा था, तो उन्हें ज्यादा सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती थी और वे ससम्मान गांव के झगड़े सुलझा देते थे। मगर जब से उन्हें कई वित्तीय–प्रशासनिक अधिकार मिल गये और विकास योजनाओं में कमाने–खाने का सुअवसर (या 'कुअवसर') मिल गया, तब से वे गाँव के झगड़े या तो निपटाने के लिए कोशिश नहीं करते अथवा उसके लिए भी 'मेहनताना' (कभी–कभी दोनां पक्षों से) वसूलने में कोर–कसर नहीं छोड़ते। सो देश के कई भागों में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा और साख में तेजी से गिरावट आयी है। इसे सूचना का अधिकार रोकने में सफल नहीं हो सका है। यहां विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि देश के कई हिस्सों में करीब एक दर्जन सूचना के अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्या कर दी गई है जिनमें ग्राम पंचायत के प्रधान लेकर ऊपर के अधिकारी या कर्मचारी, दलाल

आदि शामिल रहे हैं।

सूचना के अधिकार को प्रभावकारी तरीके से लागू करने के लिए कम से कम तीन प्रकार के प्रतिमानी बदलाव की जरूरत है :

पहला, मौजूदा गोपनीयता की संस्कृति के बदले पारदर्शिता की संस्कृति।

दूसरा, प्राधिकारियों की व्यक्तिगत निरंकुशता के बदले उत्तरदायित्व की प्रवृति।

तीसरा, एकतरफा निर्णय करने की प्रवृति के बदले सहभागी सुशासन की प्रवृति।

सन् 2005 से लागू सूचना के अधिकार कानून का अनुभव खट्टा–मीठा दोनों रहा है। द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग , 'प्रिया' नामक स्वैच्छिक संस्था और 'पैक्स' (पुअरेस्ट एरिया सिविल सोसाइटी) प्रोग्राम आदि के स्थल–अध्ययनों से मांग पक्ष के अंतर्गत जनचेतना की कमी, आवेदन देने और अभिलेखों के निरीक्षण में कठिनाइयां, विभिन्न राज्यों मे विभिन्न विभागों में लोक सूचना अधिकारियों के पदनाम में एकरूपता नहीं होना, तथा दी गई सूचना अधूरी और कम गुणवत्ता की होना आदि समस्याएं हैं। दूसरी ओर पूर्ति पक्ष में लोक उद्देश्य स्पष्ट करने की बाध्यता न होने से आवेदनों की संख्या बहुत ज्यादा होती है। दूसरे, उस सूचना पाने के लिए उपयुक्त राशि निर्धारित नहीं करने से सार्वजनिक कार्यालय का काफी पैसा सूचना देने में खर्च होता है। शैलेश गांधी (केन्द्रीय सूचना आयोग) द्वारा किये गये मूल्यांकन (दिसंबर, 2008) में पाया गया कि सरकार एक सूचना के अधिकार आवेदन का निष्पादन करने में लगभग दस हजार रुपये खर्च करती है। इसलिए सूचना प्राप्त करने वाले व्यक्ति की नेकनामी और अधिकारिता जरूरी होनी चाहिए, मांगी गई सूचना अर्थपूर्ण होनी चाहिए तथा उसका लोक उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए। इसके अलावा उसे कुल खर्च का अधिकांश वहन करना चाहिए। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्तमान कानून में किसी लोक सूचना अधिकारी के यहां आवेदन दिया जा सकता है, भले संबंधित सूचना उसके पास हो या न हो। इसके कारण उसे सही लोक सूचना अधिकारी का पता लगाने, पहचान करने और उसे भेजने की कार्रवाई करनी पड़ती है जिसमें काफी समय, श्रम और धन खर्च होता है। अस्तु, आवश्यक संशोधन करके संबंधित लोक सूचना अधिकारी को ही आवेदन देने का प्रावधान सुनिश्चित करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि अभी हर हालत में तीस दिनों के अंदर सूचना उपलब्ध करानी है, अन्यथा 250/– प्रतिदिन की दर से जुर्माना किया जा सकता है जो 25000/– रुपये तक अधिकतम हो सकता है।

मगर कई विषम परिस्थितियों यथा विधि–व्यवस्था की समस्या, प्राकृतिक आपदा, सार्वजनिक अवकाश, अधिकारी/कर्मचारी के लंबे अवकाश पर रहने, चुनाव होने, जनगणना जैसी महत्वपूर्ण प्रक्रिया चलने आदि के कारण उक्त समय–सीमा के तहत सूचनाएं देना संभव नहीं हो पाता। अस्तु, इनके लिए अपवादस्वरूप समय बढ़ाया जाना चाहिए (लगभग दो माह)। चौथी बात यह है कि सूचनाएं देने के लिए फोटो प्रति या सॉफ्ट प्रति की सुविधा न होने से समय सीमा के तहत ऐसा करना संभव नहीं है। फिर मनरेगा, सर्वशिक्षा, अभियान, ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, भारत निर्माण, संपूर्ण स्वच्छता अभियान आदि का कार्यान्वयन स्थानीय निकायों द्वारा कराया जाता है सो उनके बारे में सूचना प्राप्त करने के आवेदनों का अंबार लगा रहता है, जबकि मात्र एक पंचायत सचिव होता है। यदि वह इन आवेदनों के निष्पादनों को प्राथमिकता देता है तो उसके दैनिक कार्य पिछड़ जाते हैं। सो अंशकालिक स्टाफ की नई वैज्ञानिक विधि दी जानी चाहिए। छठवीं बात यह है कि अभिलेखों के रखरखाव में नई वैज्ञानिक विधि की जरूरत है जैसे माइक्रोफिल्म, स्कैनिंग आदि। सातवी, अधिकारियों–कर्मचारियों के प्रशिक्षण की भी विशेष जरूरत है जिससे वे क्षमता में वृद्धि करके कम समय में ज्यादा कार्य निष्पादन कर सकें। इसके साथ–साथ उन्हें प्रोत्साहित करने तथा रुख में बदलाव लाने हेतु प्रेरणा देने की भी जरूर है। अंत में, विभिन्न चौकों, चौराहों, हाट–बाजारों आदि में 'इ–सूचना केन्द्रों की स्थापना की जानी चाहिए जिससे अधिक से अधिक जानकारी बिना विभिन्न कार्यालयों में दौड़े एक स्थान पर आसानी से मिल सके। इस प्रकार पंचायतों को विधि कार्य एवं कर्मचारी दिये जाने चाहिए जिससे वे स्वयात्त हो सके और उनके अधिकार क्षेत्र में केन्द्र राज्य सरकार, विधायिका का न्यायपालिका दखल न दे सके। उन्हें स्थानीय संसाधनों पर पूरा अधिकार हो।

निःसंदेह सूचना का अधिकार ग्राम पंचायतों से लेकर राज्य और केन्द्र सरकारों द्वारा सुशासन लाने में, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व लाने में, कुछ हद तक कारगर रहा है। यह एक साथ सभी के लिए चुनौती और सुअवसर दोनों है। मगर सूचना का अधिकार सभी बीमारियों की एक मात्र कारगर दवा न है और न हो सकती है। इसकी शक्ति है, तो सीमा भी है। इस सूचना के अधिकार को सही भावसे पंचायतों में लागू करने के लिए अभी कई कोसों दूर चलना है। मगर हजार कोसों की यात्रा की शुरूआत पहले कदम से ही होती है। और यह शुभ लक्षण है कि भारत में पहला कदम उठ चुका है।

* * * *

सामाजिक न्याय, धर्म एवं मानवाधिकार*

डॉ0 वाई. पी. आनन्द

1. भूमिका

जब से पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ है, तब से निरंतर मानव समाज का बहुआयामी विकास होता रहा है। इस विकास को मार्गदर्शित करती मानव स्वभाव में कुछ प्रवृत्तियाँ तो सकारात्मक हैं जो व्यक्ति और समाज दोनों की भलाई को बढ़ाती हैं, जैसे कि सत्य, अहिंसा, प्रेम, भ्रातृत्व, करूणा, और सादा जीवन। किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ नकारात्मक हैं जो व्यक्ति की तथाकथित भलाई करते हुए समाज के लिए हानिकारक होती हैं, जैसे कि असत्य, हिंसा, द्वेषभाव, लोभ, विलास प्रियता, अपव्ययता और निरर्थक विनाशकारी उपभोग।

पृथ्वी पर प्रकृति के संसाधन सीमित हैं। सीमित वस्तुओं, सुविधाओं और सेवाओं का चित्रण समाज में कैसे होता है, यह आज के युग में सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकार का मूल विषय है।

जैसे–जैसे मानव समाज की संख्या बढ़ती गई और विकास होता गया, समाज कई प्रकार के गुटों में बंटता गया और व्यक्ति की पहचान बहुआयामी होती गई। इससे आपसी प्रेमभाव तो बढ़ा है किन्तु साथ ही भेदभाव, उदासीनता और शोषण की संभावनाएँ भी बढ़ी हैं। इस प्रकार मानव संस्कृति/सभ्यता/स्वभाव में स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ पनपती रही है।

जब तक जनसंख्या काफी कम थी और यातायात एवं संचार के साधन सीमित थे, लोग प्रायः स्थानीय जीवन जीते थे। जैसे–जैसे संख्या बढ़ी और यातायात और संचार प्रक्रिया और जीवन स्तर बढ़ते गए, समाज का राष्ट्रीयकरण और वैश्वीकरण होता गया और मानव समाज को एकरूप सोचने की आवश्यकता बढ़ती गई। उचित समाज व्यवस्था कैसी हो जिसमें हर व्यक्ति समान और सामान्य ढंग से रह सके, यही इसका मूल लक्ष्य है।

---

*दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था के लिए भेदभाव, हिंसा, सीमित संसाधनों के उपभोग में असमानता और शोषण के लिए बहुत कम स्थान होगा। अर्थात समाज में न्याय होगा जो सुनिश्चित करेगा कि समाज की हर इकाई के मूलाधिकार बराबर और सुरक्षित होंगे।

मनुष्य की सामान्य प्रक्रियाएँ अथवा उसके पुरूषार्थ 'काम' और 'अर्थ', अन्य समाज के लिए दोनों हितकारी अथवा अहितकारी हो सकती हैं। इसीलिए हर समाज के विचारकों ने कहा है कि समाज का हर व्यक्ति अपने इन पुरूषार्थ का पालन समाज की भलाई अर्थात नैतिकता को ध्यान में रखते हुए करे। भारतीय संस्कृति में इस तीसरे पुरूषार्थ को 'धर्म' की संज्ञा दी गई है। 'काम' और 'अर्थ' के पुरूषार्थों का पालन 'धर्म' पर आधारित होगा तभी व्यक्ति की भलाई सर्वसमाज की भलाई में निहित हो सकेगी, तभी एक अहिंसक, संतुलित और समृद्ध समाज की स्थापना हो सकेगी जिसमें हरेक को न्याय मिल सकेगा और हरेक के मानवाधिकार सुरक्षित होंगे।

2. धर्म की परिभाषा

नैतिकता पर आधारित समाजव्यवस्था को समझने के लिए 'धर्म' की उचित परिभाषा को समझना आवश्यक है। धर्म किसी सम्प्रदाय अथवा Religion का द्योतक नहीं है। इसकी परिभाषा महाभारत के इन तीन श्लोकों से स्पष्ट हो जाती है :–

यत् स्यादहिंसासंयुक्तं सधर्म इति निश्चयः।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।। कर्णपर्व, 8,69,57।।
धारणाद् धर्मम् इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारण–संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।। कर्णपर्व, 8,69,58।।

श्रीकृष्ण अर्जुन को कहते हैः 'सिद्धांत यही है कि जिस काम में हिंसा न हो वहीं धर्म है। प्राणियों में अहिंसा के लिये ही धर्म का प्रवचन किया गया है।'

'धारण करना ही धर्म है, धर्म ही प्रजा/समाज को धारण करता है अर्थात उसका आधार है।' यह धर्म की एक परिभाषा है।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ।। शांतिपर्व, 12,262,9 ।।

भीष्म युधिष्ठिर को कहते हैं : 'जो सब जीवों का सदा सुहृद है और मन, वाणी और क्रिया द्वारा सबके हित में लगा हो वह ही धर्म को समझता है।' यह धर्म की दूसरी परिभाषा है।

इसी प्रकार गीता में श्रीकृष्ण 'लोकसंग्रहः' और 'सर्वभूतहितेरताः' को व्यक्ति का धर्म बताते हैं, और कहते हैः 'धर्मसंस्थापणार्थाय संभवामि युगे युगे' ।।3:8।।

महात्मा बुद्ध का लक्ष्य भी था 'जो धर्म है उसको प्रचलित करना'।

जिससे 'प्रेयः' 'श्रेयः' का, अर्थात स्वार्थ, समाज के हित का, आधार बने, वही सनातन धर्म है, वही वेदान्तिक धर्म है, वही 'वसुधैवकुटुम्बकम्' का सिद्धांत है। इसी से समाज में व्यक्ति के अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच सही संतुलन रहता है।

3. संयुक्त राष्ट्र द्वारा मानवाधिकारों की व्याख्या

10 दिसंबर, 1948 को संयुक्त राष्ट्र जनरल एसेंबली द्वारा 'मानवाधिकारों का सार्वजनिक घोषणापत्र' प्रस्तुत किया गया। इसका शीर्षक हैः 'सब मनुष्य स्वतंत्र और बराबर गरिमा एवं अधिकारों के साथ पैदा होते हैं।' इस घोषणापत्र में प्रस्तावना और 30 अनुच्छेद हैं। प्रस्तावना के अनुसार विश्व में हर व्यक्ति और देश की उपलब्धि का स्तर बराबर होना चाहिए।

30 अनुच्छेदों में प्रायः हर प्रकार के – राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक – मूल अधिकार सम्मिलित हैं, उदाहरणार्थः –

जीवन, आज़ादी और सुरक्षा के अधिकार; कोई किसी का दास नहीं; किसी को जुल्म, संताप या अपमानजनक व्यवहार या सज़ा नहीं सहने होंगे; कानून के आगे सब बराबर होंगे; मानवाधिकारों का उल्लंघन न हो इसके लिए पर्याप्त व्यवस्था होगी; किसी की अकारण गिरफ्तारी या देशनिकास नहीं होगा; जब तक जुर्म प्रमाणित न हो, व्यक्ति निर्दोष माना जाएगा; हरेक को अधिकार है कहीं आने जाने का, रहने की स्वतंत्रता का, राष्ट्रीयता का, विवाह करने और परिवार बनाने का, जायदाद पाने का; हरेक को अधिकार है अपने विचार, निष्ठा, विश्वास और अंतःकरण की स्वतंत्रता का, राय और कथन की स्वतंत्रता का, शांतिपूर्ण मिलने–जुलने और इकट्ठे होने की स्वतंत्रता का; हरेक को अधिकार है सरकारी व्यवस्था में भाग लेने और सार्वजनिक सेवा की उपलब्धि का, सामाजिक सुरक्षा का, काम करने और चुनने का और बेरोज़गारी से बचने का, उचित और बराबर पारिश्रमिक पाने का और ट्रेडयूनियन में भाग लेने का; हरेक को अधिकार है आराम और अवकाश का, एक सुखी और स्वस्थ जीवन के उपयुक्त अपने और परिवार के रहने के स्तर का – जिसमें सम्मिलित हैंः रोटी, कपड़ा, मकान, उपचार और आवश्यक सार्वजनिक सेवाओं का अधिकार, बेरोज़गारी, बीमारी, विकलांगता, विधवापन, बुढ़ापा इत्यादि परिस्थितियाँ जो अपने नियंत्रण में न हों उनके होने पर

सुरक्षा और मातृत्व और शिशुओं के लिए विशेष सेवाएँ; हरेक को अधिकार है कम से कम प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा निःशुल्क पाने का, और योग्यतानुकूल उच्च शिक्षा की बराबर उपलब्धि का; हरेक को अधिकार है सांस्कृतिक स्वतंत्रता का और वैज्ञानिक उपलब्धियों के लाभ का; इत्यादि इत्यादि।

ऊपर दिए गए संयुक्त राष्ट्र के 1948 के 'मानवाधिकारों का सार्वजनिक घोषणापत्र' के साथ ही संयुक्त राष्ट्र के 2000 में प्रस्तुत 'संयुक्त राष्ट्र सहस्राब्दि घोषणापत्र' को भी देखना जरूरी है क्योंकि इसमें विश्व के वर्तमानकाल की आर्थिक एवं सामाजिक मानवाधिकारों के हनन की घोर त्रुटियों के समाधान की ओर ध्यान दिया गया है। इसके अनुसार आठ 'सहस्राब्द विकास लक्ष्य' निर्धारित किए गए हैं जो कि मानवाधिकारों को क्रियान्वित करने में बहुत कारगर होने चाहिए।

यह आठ लक्ष्य हैं : उग्र गरीबी और भूख को मिटाना; सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धि; लिंग समानता और स्त्रियों का सशक्तिकरण; शिशु मृत्युदर में कमी; मातृस्वास्थ्य में सुधार; HIV è AIDS, मलेरिया इत्यादि बीमारियों का हल; संतुलित पर्यावरण; और विकास में वैश्विक सहयोग। हर लक्ष्य के लिए 2015 तक उपलब्धि उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं, उदाहरणार्थ पहले लक्ष्य में : 1990 से 2015 के बीच उग्र गरीब एवं भूख से पीड़ित लोगों के अनुपात को आधा करना।

भारत में 'मानवाधिकार सुरक्षा एक्ट, 1993' के अधीन 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' स्थापित है। 'राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए आयोग', 'राष्ट्रीय महिला आयोग' और 'राष्ट्रीय अनुसूचित जाति और जनजाति आयोग' के अध्यक्ष भी 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' के सदस्य होते हैं। भारत में आज व्यापक आर्थिक–सामाजिक असमानताओं को देखते हुए स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग' मानवाधिकारों को सुरक्षित करने में अभी अधिक कारगर नहीं हो पा रहा है।

4. स्वतंत्रता संग्राम एवं महात्मा गांधी के सपनों का भारत

भारत के स्वतंत्रता संग्राम का मूल उद्देश्य था सामाजिक न्याय और देशव्यापी सर्वांगीव मानवाधिकारों की स्थापना। इसका प्रमाण हमें गांधीजी के कथनों और लेखों से मिलता हैं। उनकी स्वराज, ग्रामस्वराज, असली प्रजातंत्र, और रामराज्य की कल्पना बहुत वास्तविक और विस्तृत थी। अंत्योदय पर आधारित उनकी सर्वोदय की व्याख्या आज भी हमारा मार्गदर्शन कर सकती है। वे ऐसे विकास और प्रगति चाहते थे जिसमे सबसे पिछड़े व्यक्ति का अधिक से अधिक ध्यान रखा जाए।

अगस्त 1947 में जब देश आजाद हुआ तो उन्होंने शासकों के लिए यह मूलमंत्र

दिया था : 'जब भी आप शंका में हों या स्वार्थ आप पर हावी हो जाए, इस कसौटी का प्रयोग करें। सब से गरीब अथवा कमजोर व्यक्ति, जिसे आपने देखा हो, उसे याद करें और अपने आप से पूछें, क्या आप के प्रस्तावित कदम से उसे कुछ मिलेगा, उसको अपने जीवन और गंतव्य पर स्वनियंत्रण मिलेगा। अर्थात क्या यह भूखे और वर्जित लोगों को स्वराज की ओर ले जाएगा। फिर आपकी शंका और स्वत्व मिट जाएंगे।'

गांधीजी के सर्वोदयी समाज की व्याख्या इस प्रकार थीः 'उसका फैसला एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शक्ल में होगा। जिसका केंद्र व्यक्ति होगा। व्यक्ति गांव के लिए और गांव ग्राम समूह के लिए मर – मिटने को हमेशा तैयार रहेगा। इस तरह अंत में सारा समाज ऐसे व्यक्तियों का बन जायेगा जो उस समुद्र के गौरव के हिस्सेदार बनेंगे जिसके वे अविभाज्य अंग हैं। इसलिए सब से बाहर का घेरा अपनी शक्ति का उपयोग भीतरवालों को कुचलने में नहीं करेगा। बल्कि भीतरवालों को ताकत पहुंचाएगा और स्वयं उनसे बल ग्रहण करेगा। इस सही तस्वीर तक पहुंचना भारत की ज़िंदगी का ध्येय होना चाहिए। जिसमें सबसे आखिरी और सब से पहला दोनों बराबर होंगे न कोई पहला होगा न आखिरी।'

5. आज़ादी के छः दशक बाद की परिस्थिति : हम कहां चूक गए ?

पिछले छः दशकों से भारत में नियोजित विकास हो रहा है। उसका परिणाम क्या है ? सरकार की कई कमेटियों के भिन्न अनुमानों के अनुसार भारत में 2004–05 में 27% से लेकर 77% तक आबादी गरीब–रेखा से नीचे थी। और यह अनुमान रु0 12 – ग्रामीण एवं रु0 17 – नागरीय से लेकर रु0 20 प्रति व्यक्ति दिन के खर्च की गरीबी – रेखा पर आधारित हैं। आज के मूल्य स्तर को लें तो यह रेखा प्रायः रु0 20 से रु0 30 प्रति व्यक्ति दिन होगी। स्पष्ट है कि यह गरीबी – रेखाएं भुखमरी के स्तर पर रखी गई हैं, और फिर भी एक चौथाई से लेकर तीन चौथाई भारतीय आज़ादी के 65 वर्ष बाद इन सभी नीचे हैं। अंतर्राराष्ट्रीय अनुमानों के (World Bank and UNDP) अनुसार 41.5% से लेकर 74% भारतीय गरीब–रेखा से नीचे हैं। अर्जुन सेना गुप्ता कमेटी (2007) के अनुसार 1993–94 से लेकर 2004–05 के 10 वर्षों में रोज़गार में सारी वृद्धि अनौपचारिक क्षेत्र में हुई है, इसमें काम करने वालों का अधिकतम शोषण और पूंजी पर अधिकतम लाभ की संभावना रहती है।

ऐसी उग्र गरीबी का अर्थ है : रोटी, कपड़ा और मकान का अभाव, पीने के पानी और शौच व्यवस्था का अभाव, स्कूल शिक्षा और उपचार व्यवस्था का अभाव,

सार्वजनिक सेवाओं का अभाव, योग्य रोज़गार का अभाव, अस्वस्थता, कम आयु और अधिक बीमारियां। इससे बढ़कर सामाजिक अभाव और क्या हो सकता है ?

भारत सरकार की गरीबों के उत्थान के लिए योजनाएं तो बहुत हैं और इन पर इसका खर्च भी 1994 में रू0. 7,500 करोड़ से बढ़कर 2010–11 में रू0. 1,35,000 करोड़ हो गया है। किंतु स्पष्ट है कि यह पैसा अधिकतर गरीबों तक नहीं पहुंच रहा है। विकास और आय के आंकड़े भी यह बताते हैं कि भारत में करोड़पति और असमानता विकास दर से कहीं तेजी से बढ़ रहे हैं, और अर्थिक एवं सामाजिक असमानता घटने की बजाय बढ़ती जा रही है। यह कैसा विकास है ? तथाकथित 'विकास' की असफलता का सबसे बढ़ा सूचक है : आज़ादी के छः दशक बाद देश के 626 में से 103 ज़िलों में, नौ राज्यों में घोर नक्सल विद्रोह जैसी परिस्थिति का होना।

बच्चे देश का भविष्य होते हैं, इसलिए विकसित देशों में मूल शिक्षा के अभाव अथवा इसमें भेदभाव को बहुत पहले खत्म कर दिया था। सार्वजनिक अनिवार्य एवं निशुल्क प्राथमिक शिक्षा का अधिकार हमारे स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य रहा है। गो. कृ. गोखले ने 1911 में लेजिसलेटिव एसेम्बली में 'फ्री एन्ड कम्पलसरी एजुकेशन बिल' रखा था। गांधीजी की 'नई तालीम' का केन्द्रबिंदु भी हर बच्चे को स्कूल स्तर तक अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा दिलाना था। आज़ादी के बाद भारत के संविधान में अनुच्छेद 45 के अधीन 14 वर्ष की आयु तक हर बच्चे को अनिवार्य एवं निशुल्क शिक्षा 1960 तक दिलाना सरकार का कर्त्तव्य था। किन्तु यह अनुच्छेद 'मूल अधिकारों में रखने की बजाय 'डायरेक्टिव परिंपलज़' के अधीन रखा गया। इसका परिणाम यह है कि आज तक किसी सरकार ने इसे लागू नहीं किया और एक अति भेदभावपूर्ण शिक्षाप्रणाली को विकसित किया गया है, जिसके अधीन ऊपरी वर्ग के बच्चे 'पब्लिक स्कूलों' में जाते हैं, आम वर्ग के बच्चे निशुल्क स्कूलों में जाते हैं, और 'गरीब' बच्चे बालमजदूर बनते हैं।

अंततः संविधान में 86वां संशोधन 2002 में किया गया और 2010 में 'राईट टू एजुकेशन एक्ट' पास किया गया। किन्तु इनमें अनुच्छेद 45 को सीधे 'मूल अधिकारों' में रखने की बजाय उसको ऐसा तोड़ दिया गया है कि स्कूल शिक्षा में वर्ग आधारित भेदभाव कायम रह सके।

डा0 भीमराव अम्बेडकर ने संविधान के बन जाने के बाद ठीक ही चेतावनी दी थी कि 26 जनवरी, 1950 से हर व्यक्ति को बराबर के मूल राजनीतिक अधिकार तो मिल जाएंगे किन्तु सामाजिक और आर्थिक अधिकार नहीं मिलेंगे।

5. सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकारों की संतोषजनक व्यवस्था कैसे की जा सकती है

1916 में म्युइर कालेज, इलाहाबाद की आर्थिक सोसायटी में गांधीजी ने 'क्या आर्थिक प्रगति असल प्रगति के विरूद्ध है?' के विषय पर कहा थाः यदि अर्थशास्त्र धर्माधारित अर्थात जनहित में होगा तभी समाज कल्याण बढ़ेगा और आर्थिक प्रगति वास्तविक प्रगति के अनुकूल होगी; वास्तविक प्रगति का चिन्ह यह नहीं कि कितने करोड़पति है किन्तु यह कि एक भी व्यक्ति भूखा न रहे एवं हरेक को आसानी से आजीविका मिले। बाद में उन्होंने कहा है कि 'ऐसा अर्थशास्त्र जो पूंजीपति की पूंजी बढ़ाए और शक्तिशाली को कमजोर वर्ग को हानि पहुँचाकर पूंजी बनाने का अवसर दे, वह एक असंतोषजनक प्रणाली है।'

आर्थिक 'सुधार' केवल 'व्यवस्थित पूंजीवाद/बाजार' की वृद्धि की ओर ध्यान देते हैं, न कि सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की ओर। एडम स्मिथ का 'अदृश्य हाथ' सर्वोदय समाज की क्षति पर पनपता है, जबकि 'खादी अर्थशास्त्र' 'मानवतत्व' से प्रेरित होता है न कि 'शुद्ध लाभ' से। वैश्वीकरण से असमानताएं और बढ़ती हैं क्योंकि वहां मूल प्रभाव पूंजी का होता है; इसलिए वहां विशेष ध्यान रखना चाहिए ताकि समाज में शोषण न बढ़े। अर्थशास्त्र में 'विकास' यदि केवल 'जी डी पी' द्वारा नापा जाता है, तो उससे समाज में अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार और हिंसा के बढ़ने की आशंका है जैसा कि पिछले एक दशक में भारत में देखा जा रहा है। आर्थिक विकास आवश्यक है किन्तु यह एक ऐसे व्यापक एवं समग्र विकास का भाग होना चाहिए जो देश को एक अहिंसक, समानतापूर्ण, प्रगतिशील, संतुलित, समृद्ध और सुखी समाज की ओर लेता जाए। तभी सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की पूर्ति और सुरक्षा हो सकेगी।

'विश्व विकास रिपोर्ट 2006, के अनुसार सामाजिक समानता दो प्रकार से देखी जानी चाहिए। हर व्यक्ति के लिए समान 'अवसर' हो ताकि उसकी सफलता मूलतः उसकी निपुणता एवं प्रयास पर आधारित हो न कि उसके सम्प्रदाय, जाति, लिंग, अथवा पृष्ठभूमि पर। दूसरे, अभावों का न होना, विशेषतः शिक्षा, स्वास्थ्य और उपभोगस्तर में।

भारत के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परम आवश्यक है कि समाज के उग्र गरीब और भेद्य भागों के एक विशाल सार्वजनिक कार्यक्रम द्वारा उनके मूल अभावों की क्षतिपूर्ति की जाए और समाज में न्यूनतम स्तर भी ऐसा हो जाए कि जो उचित और पर्याप्त हो। मानव जीवन का मूल अधिकार हैं सार्वजनिक सेवाओं की पर्याप्त उपलब्धि और पर्याप्त आय अथवा रोज़गार। हरेक को पर्याप्त पोषण मिले, पीने के लिए स्वच्छ पानी मिले,

शौच व्यवस्था मिले। शिक्षा के क्षेत्र में संविधान के मूल अनुच्छेद 45 को 'मूल अधिकार' बनाते हुए हर बच्चे को स्कूल स्तर तक ही समान अनिवार्य और निशुल्क शिक्षा क्षेत्रीय स्कूलों में मिले। कोई बच्चा कुपोषण का शिकार न हो, कोई बच्चा भीख न मांगे, कोई बालमज़दूर न हो, शिशु और मातृ मृत्युदर विकसित देशों के स्तर तक रहे। मूल आरोग्य सेवाएं सबको उपलब्ध हों।

यह सब तभी हो सकेगा यदि आर्थिक व्यवस्था धर्म/नैतिकता पर आधारित होगी। हर नागरिक की मूल आवश्कताओं की पूर्ति इसका प्रथम लक्ष्य होगा, और विलासता पर उचित नियंत्रण होगा। यह सब तभी हो सकेगा यदि उत्पादन, वितरण और उपभोग का आधार और आर्थिक प्रगति के सूचकों का आधार सामाजिक न्याय और मानवाधिकारों की रक्षा करना होगा। आर्थिक प्रक्रियाओं में सामाजिक और प्राकृतिक लागतों को भी गिना जाएगा। यह सब तभी हो सकेगा जब सामाजिक – आर्थिक व्यवस्था गांधीजी के 'संरक्षकता' के सिद्धांत पर आधारित होगी।

अतः सामाजिक न्याय एवं मानवधिकारों की संतोषजनक व्यवस्था तभी स्थापित हो पायगी जब समाज में काम और अर्थ के पुरूषार्थो का पालन धर्म के पुरूषार्थ पर आधरित होगा।

* * * *

'सामाजिक न्याय, मानवीय संकल्पना और ऐतिहासिक चेतना'*

प्रो0 हजारीमयुग सुवदनी देवी

मानव का इतिहास उसकी प्रगति की कहानी है। अपनी शरीर रचना में मनुष्य पशुतुल्य है परन्तु जहाँ एक ओर तो उसका वृहत् मस्तिष्क और संवेदनाशील तंत्रिका तंत्र उसे अभूतपूर्व बुद्धि और क्षमता प्रदान करते हैं वहीं दूसरी ओर उसके कमजोर शारीरिक अंग बाध्य करते हैं कि जीवनयापन के संघर्ष में वह पशुओं से कुछ ऊपर उठे, समूहों में संगठित हो और अपनी संस्कृति की रचना करे। इस तरह के संगठन से समाज बनता है। पशुओं से ऊपर उठते हुए मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा गया है। यही प्रवृत्ति मनुष्य की पवित्र थाती है और इसी कारण मनुष्य मानव बन सका है।

मनुष्य अन्य प्राणियों से श्रेष्ठ है मनुष्य अन्य जीवों से समर्थ, सचेत और श्रेष्ठ है अतः शेष जीवन और जगत की सुरक्षा और सम्पोषण का दायित्व भी उसी पर है। लेकिन इसके विपरीत वह अपनी श्रेष्ठता का गलत उपयोग भी करता है। जैसे प्रकृति और जीव–जगत का शोषण दोहन और दमन करने के अपने अधिकार से वह समझने लगता है कि उसका दायित्व अधिक से अधिक अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों तक ही नहीं बल्कि धर्म या राष्ट्र के सदस्यों के प्रति भी है? यही तर्क समाज पर लागू होता है अधिक विकसित और शक्तिशाली वर्ग के लोग अपने से कमजोर और हीन लोगों का उपयोग करते हैं। यही बात राष्ट्रों पर लागू होती है कि बहुत ही विकसित और शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा स्वाभाविक रूप से अपने से हीन और कमजोर राष्ट्रों का उपयोग होता है।

सामाजिक न्याय से तात्पर्य है समाज में रहने वाले सभी को समानधिकार मिले। समान रूप से मानवाधिकारों की संभावना एक व्यापक जीवन दर्शन पर आधारित संकल्पना है जिस के घेरे में समूचा जीवन और समाज–व्यवस्था आ जाती है।

---

*गुवाहाटी में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

मानवाधिकारों की संकल्पना की बुनियाद है मनुष्य को सब कुछ का पैमाना मानना। ''मेन इज दी मेजर ऑफ ऑल थिंग्ज''। इसी बात को कार्ल मार्क्स ने ''मेन इज दी रूट ऑफ मैनकाइन्ड'' कहकर व्यक्त किया है। मनुष्य मानवता की जड़ है। मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मनुष्य चीजों का मापदण्ड है मनुष्य ही एकमात्र सत्य है – इस तरह की बातें इस विचारधारा को मानने वाले लोगों से अक्सर सुनने को मिल जाती है।

वैज्ञानिक मनुष्य को जीवों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं : दार्शनिक उसमें चेतना की चरम अभिव्यक्ति खोजते और सृष्टि का केन्द्रीय स्थान उसी को देते हैं। यहाँ तक कि मनुष्य के इतिहास को एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में देखने और मानवीय नियति को यान्त्रिक स्तर पर नियन्त्रित कर सकने की आशा करने वाले लोग भी अपने प्रयत्नों का प्रयोजन मनुष्य का कल्याण ही मानते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की कसौटी और बुनियादी प्रेरणा भी यही है कि उसके अंतर्गत मनुष्य के बहुआयामी विकास को किस सीमा तक एक अनुकूल वातावरण व सुविधाएँ मिलती हैं। जो व्यवस्था मनुष्य के विकास की संभावनाओं को मानसिक, आध्यात्मिक अथवा सामाजिक–आर्थिक स्तर पर रोकती है, उसे हम मानवीय और नैतिक व्यवस्था नहीं कह सकते। इसी प्रकार यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है कि उस में जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इसके गुणात्मक उत्कर्ष की अपेक्षा भी मनुष्य से ही की जा सकती है। मनुष्य होने का मतलब ही उन विशेषताओं से सम्पन्न होना है जो उसे अन्य जीवों से भिन्न करती और मानवत्व के अर्जन की दिशा में प्रेरित करती हैं। मानवीय समझी जानेवाली सभी आचरणगत विशेषताओं की बुनियाद में जाकर देखें तो जो बातें मनुष्य को बुनियादी तौर पर दूसरे प्राणियों से अलग करती है वे है उसका अन्तः करण अर्थात् चेतना और उसमें निहित सर्जनशीलता। पशु और अन्य मनुष्येतर प्राणियों में इसलिए अनुप्राणित एवं अनुशासित होने लगती है क्योंकि उनकी चेतना और सर्जनशीलता मिलकर मानव जीवन के सभी पक्षों उसके प्राकृतिक कार्य–व्यापार से लेकर सामाजिक व्यवहार तक में उत्तरदायित्व बोध विकसित करती है। यह उत्तरदायित्व उन मूल्यों के प्रति होता है जिनका स्रोत मनुष्य की चेतना स्वयं है। इस प्रकार मानव होने का मतलब है चेतना सम्पन्न, सर्जनशील और उत्तरदायी होना। चेतना, स्वतन्त्रता, सृजनशीलता और सामाजिकता ऐसे पहिये हो जाते हैं जिन पर मानवीय उत्कर्ष की यात्रा होती है। इन मूल्यों के आधार पर विकसित मानवीय आचरण का औचित्य स्वयं प्रमाण है। इन प्रवृत्तियों के पुष्ट और विकसित होने का तात्पर्य जीवन और अस्तित्व

मात्र का पुष्ट और विकसित होना है क्योंकि जीवन, जो सभी मूल्यों का स्रोत है इन्हीं मूल्यगत प्रवृत्तियों में गुणात्मक उत्कर्ष प्राप्त करता है। अपने विभिन्न पक्षों में मानवीय जीवन कहाँ तक सही दिशा की ओर उन्मुख है इसकी मात्र कसौटी यही हो सकती है कि चेतना, स्वतंत्रता, सर्जनशीलता और सामाजिकता की भावनाएँ कहाँ तक पोषित होती हैं। इन प्रवृत्तियों का पोषण जितना अधिक होता जाता है मानव में निहित संभावनाएँ भी उतनी ही उजागर होती जाती हैं। सभी मानवीय रिश्तों और संस्थाओं का अंतिम उद्देश्य इन मूल्यों को उजागर करना ही है और यदि वे ऐसा नहीं करती है तो समाज का सही विकास होने के बजाय बाधा या विकृति बन जाती है। हमारी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का औचित्य तभी समझा जा सकता है जब वे इन मूल्यों से अनुप्राणित हो और अपने आचरण द्वारा इन्हें पुष्ट करें।

राजनैतिक या सामाजिक – आर्थिक प्राणी होने के साथ–साथ मनुष्य एक नैतिक प्राणी भी है। कोई राजनीति या सामाजिक आर्थिक शक्ति यदि मानव–समाज में बेहतर बदलाव के लिए प्रयत्नशील है तो वह एक नैतिक कोशिश है। एक ऐसी नैतिक कोशिश जिसकी प्रेरणा मनुष्य के अस्तित्व में ही निहित है जिससे जीवन की मूल प्रेरणा और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आचरण में संगति रख पाते हैं।

ऐतिहासिक चेतना पर आप लोगों का ध्यान मणिपुर की तरफ खींचना चाह रही हूँ। प्राचीन काल में मणिपुर की सामाजिक स्थिति क्या थी, अब क्या स्थिति है? इसके बारे में बताना चाहूँगी। मणिपुर भारत की उत्तर–पूर्वी सीमा पर स्थित एक छोटा–सा पर्वतीय राज्य है। इसके उत्तर में नागालैण्ड, दक्षिण में मिजोरम एवं म्यांमार देश है। पश्चिम में असम का कछार जिला है और पूर्व में म्यांमार देश के सोमराह प्रदेश एवं उच्च चीनद्विन जिले हैं। भौगोलिक दृष्टि से मणिपुर को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक पर्वतीय भाग और दूसरा घाटी का भाग। घाटी का भाग मणिपुर राज्य का केन्द्रीय भाग है, जहाँ मैतै जाति के लोग बसते हैं। इसको घेरते हुए चारों तरफ पर्वतीय क्षेत्र फैले हुए हैं, जहाँ विभिन्न प्रकार की जन–जातियाँ बसती हैं। इनमें मुख्यतः ताङ्खुल, कबुई, जौ, सिमते, गाङ्ते, कोइरेङ्, कुकी, पाइते, मरिङ्, थादौ, मोयान आदि जन जातियाँ हैं। ये विभिन्न जन–जातियाँ मणिपुर के विभिन्न पहाड़ों में बसती हैं। इनकी अलग संस्कृति है और अलग–अलग भाषाएँ हैं जो एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं। इन विभिन्न जन–जातियों के बीच संप्रेषण का एकमात्र माध्यम मणिपुरी भाषा है। सन् 1891 के पहले तक मणिपुर में राजा द्वारा शासन किया जाता था। मणिपुर के विभिन्न पहाड़ों में बसनेवाली जन–जातियों के भी अपनी–अपनी बस्तियों में एक–एक राजा हुआ करता था। वे सब घाटी में राज्य करने वाले मैतै राजा

के आधीन थे। क्योंकि मैतै राजा के पास ज्यादा शक्ति थी। कभी–कभी मैतै राजा पहाड़ी जन–जातियों को घाटी में बुलाकर सफाई का काम करवाते थे। इनका काम गन्दगी से जुड़ने के कारण इनको अछूत या अपवित्र मानते थे। मणिपुरी लोगों में वही भेद जन–जाति और मैतै के बीच दिखाई देता था। लेकिन भारत के स्वतंत्र होने के बाद मणिपुर भी भारत में शामिल कर दिया गया। जन–जातियों के जीवन में परिवर्तन आया। क्योंकि संविधान ने इन लोगों की रक्षा की। संविधान सामाजिक क्रांति की अपेक्षा रखता है और यह क्रान्ति निर्दिष्ट सामाजिक परिवर्तन के एक साधन के रूप में विधि के प्रयोग के माध्यम से ही लाई जाती है। सच बात तो यह है कि मणिपुर की जन जातियाँ मैतै लोगों से अब ज्यादा शाक्तिशाली एवं समृद्ध बन गयी हैं। मैतै जाति के भीतर वर्ग के अनुसार भेद भाव नहीं है। राजा और ब्राह्मण को पूज्य मानते थे, इसलिए सामान्य लोगों से कुछ ऊपर रखते थे। अन्य राज्यों की तुलना में मणिपुर की महिलाएँ अधिक स्वतंत्र है। राज्य के आर्थिक विकास में भी मणिपुरी महिलाओं का काफी योगदान रहा है। दूसरी तरफ मणिपुरी समाज को सुचारू रूप में (व्यवस्थित रूप में) रखने में भी महिलाओं का विशेष योगदान रहा है। फिर भी बच्चों की परवरिश में लड़की और लड़के के आधार पर कहीं भेद भाव दिखाई देता है। माँ, लड़की और लड़के को खाना खिलाती है। खाना खाने के बाद माँ लड़की से झूठा बर्तन साफ करने को कहेगी। दूसरी तरफ लड़के से कुछ नहीं कहेगी। लड़की और लड़का कभी–कभी बचपन में लड़ाई–झगड़ा करते हैं, माँ लड़के का पक्ष लेती दिखाई देती है और उसे 'दस के स्वामी' कहकर लड़कों को एक से ज्यादा लड़कियों से संबंध बना लेने का रास्ता भी तैयार करवाती है। इसका दुष्परिणाम ही निकलता है। लड़कों को बहुत छूट मिल जाती है। या तो वे आवारा होकर भटक जायेंगे या नशे के शिकार हो जायेंगे। कुछ अच्छे निकल आते हैं, अधिकांश बुरी संगति में फँस जाते हैं। जब कोई लड़का पैदा होता है, खुशी से नाच उठता है, पर जब लड़की पैदा होती है, तब मातम मनाता है। इस तरह मणिपुरी समाज में भी पुरूष की तुलना में नारी हमेशा एक हीन अवस्था में रही है। जबकि इस समाज को हर तरह का योगदान महिलाओं ने दिया है।

इस प्रकार जहाँ जहाँ मणिपुर समाज की विशिष्टता दिखाई देगी वहाँ–वहाँ इस समाज की महिलाओं की शानदार एवं सुकोमल प्रतिमाएँ दिखाई देती है। मणिपुरी इतिहास इस बात का साक्षी है कि आदि काल से लेकर आज तक के इतिहास में इस समाज को सुचारू रूप में रखने में महिलाओं का विशेष योगदान रहा है। वे समाज के हर कार्य में सक्रिय रूप में भाग लेती आयी है। जैसे शादी–विवाह, श्राद्ध–कर्म, पूजा–पाठ आदि में महिलाएँ ही सारी व्यवस्था करती हैं। इनकी देखरेख में सभी काम

संपन्न होते हैं। इन सभी सामाजिक कार्यो का सूक्ष्मतिसूक्ष्म ज्ञान इन्हें रहता है और साथ ही घरेलू सभी काम तो महिलाओं का ही है। जैसे खाना बनाना, कपड़े धोना, सीना, पिरोना, बर्तन माँजना, घर की सफाई करना आदि काम भी महिलाओं का ही है। मणिपुर में नौकर की व्यवस्था का पूर्णतः अभाव है। अतः सभी कामकाजी महिलाएँ सभी घरेलू काम निपटाने के बाद दफ्तर जाती हैं दफ्तर देर से पहुँचती हैं उसकी भी अलग समस्याएँ हैं। खेती बाड़ी के क्षेत्र में भी महिलाएँ पीछे नहीं रहती हैं। बोआई, कटाई, निराई आदि काम तो महिलाओं का ही हैं। इतना ही नहीं, जब–जब मणिपुरी समाज में भ्रष्टाचार और अन्याय की ज्वाला भड़क उठती है तब यहाँ की महिलाएँ रण–देवी दुर्गा का रूप धारण करती हैं। वे अन्याय को चुपचाप सहेंगी नहीं बल्कि साहस –पूर्वक सामना करेंगी। इस बात का प्रमाण है कि मणिपुरी इतिहास के पन्नों में स्वर्ण अक्षरों से अंकित ''नुपी लाल'' (महिला युद्ध) का आन्दोलन। यह आन्दोलन 12 दिसम्बर 1939 से लेकर 15 जून 1940 तक चला। इस आन्दोलन में था केवल म़हिलाओं ने ब्रिटिश शासक के अन्याय, अनीति और भ्रष्टाचार के विरूद्ध कृत्रिम अकाल से पीड़ित जन–समाज के लिए आवाज उठाई थी। उस समय लोग चावल के एक दाने के लिए तरस रहे थे। उधर ब्रिटिश सरकार सहित कई कारोबारी अपने गोदाम में चावल और धान इकठ्ठा कर रहे थे। कई चावल की मिलों के माध्यम से ऊँचे दाम पर मणिपुर के बाहर भेज रहे थे। इसको रोकने के लिए किया गया यह आन्दोलन था। आखिर महिलाओं की जीत हुई। सरकार को बाहर चावल भेजना रोकना पड़ा। इतना बहुत करने पर भी महिलाओं जो अधिकार मिलना चाहिए था उसे नहीं मिल पाया। कानून के आधार पर उसे माँ–बाप की सम्पत्ति का हकदार पुरूषों के बराबर मिलना चाहिए था। उसे नहीं मिल पाया। समान स्तर मिलने का अधिकार समाज नहीं देता है। मणिपुरी लोगों में हिन्दू होने के नाते मनुस्मृति में 'नारी' के बारे में जो लिखा था उसकी छाया अभी तक बनी हुई है। जैसे कहा गया है कि ''अपने घर में भी उसे कुछ भी स्वाधीन होकर नहीं करना चाहिए, बचपन में उसे अपने पिता के, यौवन में अपने पति के और पति के निधन के बाद अपने बेटों के अधीन होना चाहिए।'' इस तरह एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर इस तरह अधिक निर्भर हो तो उसे क्या मिलेगा। उसके कहीं भी स्वतंत्र अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता है। अभी भी रूकी नहीं महिलाओं की लड़ाई। समाज सुधार की लड़ाई, समाज बचाव की लड़ाई। 21वीं शताब्दी के नौजवान अपना मूल्यवान समय गँवाकर शराब, नशीली दवाओं आदि भयानक नशे के मुँह में कूद रहे हैं। अगर एक बार कोई इन दानवों के मुँह में कूद गया तो मौत का नाम लेकर निकल सकता है, अन्यक्षा नहीं। इन जहरीले नशे से शिकार हुए नौजवानों को बचाने

के लिए हाथ में मशाल लेकर ''मैरा पाइबी'' अर्थात मशाल पकड़ने वाली के नाम से एक सामाजिक आन्दोलन हुआ। इसकी शुरूआत 1975 के आस पास हुई।

अब इस आन्दोलन का उद्देश्य नशे विरोध के साथ Arms Forces Special Power Actè1958 (AFSPSA) था विरोध करना भी शामिल है। 1978–79 से लेकर मणिपुर में insurgency का प्रभाव समाज में पड़ने लगा था। इसके परिणाम स्वरूप भारत सरकार ने पूर्वाचल में विशेष रूप से मणिपुर को अशांत क्षेत्र घोषित किया। परिणाम स्वरूप मणिपुर में AFSPA लागू किया था। इसके परिणाम स्वरूप किसी भी व्यक्ति को Militan शंका होने पर उसे मारने और पकड़ने का अधिकार Army को रहता है। कभी–कभी निरपराध लोगों को ।तउल पकड़ लेती है, मार भी देती है। कभी–कभी Army द्वारा सीधी–सादी गाँव की महिलाओं के साथ अत्यचार भी होता है। उदाहरण के तौर पर 'मनोरमा' के साथ जो हुआ था कोई नहीं भूल सकता। असम राइफल्स द्वारा उसकी इज्जत लूटने के बाद जुलाई 11, 2004 में उसकी हत्या भी कर दी गयी।

आज कल मणिपुर में insurgency के नाम के उग्रवाद का काम भी होता रहा। कभी–कभी बाजार में बम फटना, रास्ते पर बम फटना आदि काम तो आम बात हो गई। इससे आम आदमी की ही मृत्यु होती है। कुछ दिन पहले पाओना बाजार में बम फटने से दो आदमी की मृत्यु हुई, पुल के रास्ते बम फटने से बस में बैठी 8 सवारी की मृत्यु घटना स्थल पर हुई। पैसे की मांग पर लोगों को पकड़ना, मारना आदि मणिपुर में आम बात हो गई है। सभी लोग डरे हुए हैं। ऐसा लगता है कि लोगों से जीने का अधिकार छीन लिया गया हो।

कविता का शीर्षक है :

''अपने में सिमटे हुए लोग''
क्यों डर कर आभास
मन में सदा?
आधी–रात में चली,
गोली की आवाज,
सुबह होते ही मिली,
लावारिस लाश।
जिसको पूछनेवाला कोई नहीं,
अपना बतानेवाला कोई नहीं,

जी रहे हैं सभी लोग,
अपने में सिमटे हुए,
बनकर गूँगे,
बनकर अँधे
हृदय को करके मौन,
शायद .....
उस अनचाही प्रतीक्षा में ....
–अपनी बारी की–
अधमरे होकर जी रहे हैं
सभी।
मन में लिए भय,
मन में लिए डर,
स्वयं को भी मालूम नहीं,
कब लावारिस लाश बन जाय।

* * * *

''पर्यावरण, पंचायते एवं मानवाधिकार''*

डॉ0 विनोद शुक्ल

पर्यावरण ऐसी परिस्थितियों का समुच्चय है जिसमें मनुष्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है। यह गतिमान होते हुए भी स्थान एवं काल के साथ–साथ परिवर्तित होता रहता है। पर्यावरण के बदलने से भी मनुष्यों तथा अन्य जीवधारियों में परिवर्तन हुआ और मनुष्य ने भी अपने क्रिया कलापों द्वारा पर्यावरण को प्रभावित किया है। प्रत्येक जीवधारी अपने अनुकूल पर्यावरण की उपज है। पर्यावरण के साथ अनुकूलन स्थपित करते हुए ही जीव के जीवन काल का क्रमिक विकास होता है। किंतु परिस्थितियाँ प्रतिकूल होने पर जीवधारियों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति के इस युग में प्रकृति पर समाज के क्रिया कलाप का प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा है। प्राकृतिक संसाधनों के अविवेकपूर्ण उपयोग तथा पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव सामान्यतः सामाजिक कारणों में बद्धमूल होता है। प्रकृति और जैवगत में मनुष्य के आर्थिक क्रियाकलाप के फलस्वरूप अनवरत परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों में निम्नांकित शामिल हैंः वनस्पति वाले क्षेत्रों का कम होना; जमीन और पानी में अम्लीकरण होना; औद्योगिक अपशिष्टों की अधिकता से जाना; ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन में वृद्धि; परम्परागत ईधन बड़ी मात्रा में जलाया जाना; इनके परिणामों का हुए प्रभाव स्पष्टतः नजर आने लगा है।

प्राकृतिक संसाधन केवल साधन हैं जबकि मानवीय संसाधन साधन एव साध्य दोनों ही हैं। हम जानते हैं कि पानी वनस्पतियों व प्राणियों के लिए जीवंत महत्व का होता है और कृषि व औद्योगिक उत्पादन की लगभग सम्पूर्ण तकनीकी प्रक्रियाओं की एक अनिवार्य आवश्यकता है। ताजे पानी के इस प्रयोग से पानी का अभाव पैदा हो गया है। इस कमी में जल चक्र का कमजोर होना भी कारण माना जा रहा है। इस तरह जो कमी दृष्टिगत हो रही है उसके पीछे मानव समाज का एक

***कोचीन (केरल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

शक्तिशाली, पर संख्या में कम मात्रा वाला वर्ग प्रभावी भूमिका निभा रहा है। पर जो प्रभाव पड़ रहा है वह सम्पूर्ण समाज पर पड़ रहा है। उदाहरणार्थ एक कृषि क्षेत्र में कोका कोला की फैक्ट्री नित्य हजारों लाखों लीटर पानी जमीन से निकाल कर उसका बोतलों में प्रयोग कर रही है फलतः वहाँ का भूमिगत जल स्तर नीचे जा रहा है। जिसका प्रभाव कृषि क्षेत्र में लगे नलकूपों पर पड़ रहा है और किसानों को सिंचाई के लिये पानी नहीं मिल पाता। यह किसानों का अधिकार हनन नहीं तो और क्या है। इसी तरह ग्रामीण पंचायतों पर भी नगरीय संस्कृति का दबाव पड़ रहा है। पर्यावरण एक अति विकसित दृष्टिकोण का विषय बन

गया है। यह दिन–प्रतिदिन जटिलताओं से घिरता जा रहा है। जीव जगत अपने बनाये पर्यावरण में ही आबद्ध हो कर उसी में जीवन निर्वाह करने का बाध्य हो गया है। क्षेत्रीय आधार पर पर्यावरण को सीमा में बांधा जा सकता है पर पर्यावरण एक अमूर्त तत्व है इसकी कोई सीमा नहीं है।

भारत में राष्ट्रीय विकास की मुख्य धारा गाँवों से प्रवाहित होकर नगरों को आप्लावित करती है। इस धारा में ग्रामीण संस्कृति और नगरीय संस्कृति का समन्वय होता है। नगर एवं ग्राम के बीच अन्योन्याश्रित संबंध पाया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में शासन व्यवस्था पंचायतों द्वारा आच्छादित होती है लेकिन एक सीमा के बाद नगरीय क्षेत्र ही उनकी समस्याओं का समाधान करते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण विकास की जिम्मेदारी पंचायतों को प्रदान की गई है। इसमें ग्राम पंचायत, क्षेत्र पंचायत एवं जिला पंचायत के रूप में तीन स्तर बनाए गए हैं। ग्राम पंचायत शासन सत्ता की अंतिम कड़ी है, जो महामहिम राष्ट्रपति महोदय एवं माननीय प्रधानमंत्री के निर्देशों का पालन करने को बाध्य है। अर्थात् केंद्र सरकार एवं राज्य सरकार की सभी योजनाएं गांव से ही प्रारम्भ होती हैं और इन योजनाओं का सफल संचालन ही राष्ट्रीय विकास को गति प्रदान करता है। विकास और पर्यावरण संरक्षण परस्पर विरोधी नहीं है। वास्तव में प्र्यावरण को क्षति पहुँचने से खर्चे बढ़ते हैं जो विकास के मार्ग में बड़ी बाधा है। हरित क्रांति के अनेक दुष्परिणामों के कारण अब कृषि अनुसंधान तथा विकास की रणनीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही हैं। डा0 एम0एस0 स्वामीनाथन के अनुसार– ''पर्यावरण अनुकूल खेती ही स्थायी खाद्य और आजीविका सुरक्षा प्रदान कर करती है। किंतु इसमें हमें अपना ध्यान जिंस केंद्रित दृष्टिकोण से हटा कर सम्पूर्ण फसल या खेती व्यवस्था की ओर लगाना होगा। तभी इस दिशा में प्रगति की जा सकती है। इस तरह के अनुसांधन में सम्पूर्ण उत्पादन व्यवस्था की कुशलता और उत्पादन बढ़ाने में जोर दिया जाना चाहिए।'' यहाँ कृषि की

वर्तमान व्यवस्था में रासायनिक उर्वरकों के अधिकाधिक प्रयोग और कीटनाशी रसायनों की अधिकता पर्यावरण प्रदूषण में वृद्धि के साथ मृदा में उपजाऊपन का ह्रास दिखायी दे रहा है। यह लक्षण ग्राम विकास का स्वरूप नहीं है जो पंचायती राज्य व्यवस्था के तहत भारत सरकार द्वारा कल्पना की गयी है।

पंचायतों के माध्यम से समग्र ग्रामीण विकास की दशा और दिशा में परिवर्तन लाने के लिए मानव अधिकार और पर्यावरण दोनों का समन्वय आवश्यक है। किसी भी समुदाय का समग्र विकास उच्चस्तरीय सरकारों द्वारा नहीं बल्कि स्थानीय लोगों द्वारा ही हो सकता है। 73 वें संविधान संशोधन के माध्यम से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के नए युग की शुरूआत की गई जिसके अंतर्गत शक्तियाँ और जिम्मेदारियाँ दोनों ही तीनों स्तरों पर चुनी गयी पंचायतों को सौंपी गयी। पंचायतों को ग्रामीण क्षेत्रों के आर्थिक विकास के साथ ही सामाजिक न्याय के लिए योजना बनाने की महत्वपूर्ण जिम्मेदारी सौंपी गयी है इस संशोधन से ग्रामीण समाज में बदलाव आया है और धीरे–धीरे पंचायतें ग्रामीण विकास की महत्पूर्ण कड़ी बनती जा रही है। इसके बावजूद पंचायतों की भूमिका को सफल बनाने के लिए इस दिशा में अभी बहुत कुछ किया जाना जरूरी है। महिलाओं तथा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्यों के लिए आरक्षण तो किया गया है लेकिन सर्वेक्षणों और अध्ययनों से ज्ञात हुआ है कि महिलाओं को अभी इस अधिनियम के तहत अपनी शक्तियों का स्पष्ट ज्ञान नहीं है। पंचायतों की बैठक में उनकी अनुपस्थिति और कहीं–कहीं महिलाओं के प्रति कठोर एवं अमानवीय निर्णय भी उनके स्पष्ट ज्ञान न होने का संकेत देता है। यहाँ पंचायतों को सुदृढ़ करते हुए बच्चों, महिलाओं, वृद्धों एवं कृषकों की उचित हक के प्रति जन जागृति के माध्यम से सचेत करने की आवश्यकता है जैसा कि मेरे सपनों का भारत नामक लेख में गांधी जी ने कहा है कि पंचायतों को प्रभावशाली बनाने के लिए लोगो के शैक्षणिक स्तर में वृद्धि करनी होगी जिससे उनकी नैतिक शक्ति में स्वतः स्फूर्त वृद्धि होगी।

पंचायत भारतीय समाज व्यवस्था का प्रचीन काल से ही एक आधारभूत शक्ति सम्पन्न सत्ता का स्वरूप रहा परंतु सत्ता का अधिकार, समाज पर प्रभाव, समाज की आवश्यकता आदि में समय–समय पर परिवर्तन होने से इसका स्वरूप बदलता रहा है। आज की पंचायत व्यवस्था भारतीय शासन तंत्र की नींव के रूप में विकसित हो रही हैं। आज हम पंचायती राज व्यवस्था के सबको उसमें सक्रिय पा रहे हैं। पंचायतों का सीधा संबंध गांवों से है। गांव का विकास इस तरह होना चाहिए कि समस्याओं का खात्मा तो हो लेकिन गांव का मूल स्वरूप न बदलने पाए। गांव में बिजली, और पानी

और सड़क की व्यवस्था जानी चाहिए, लेकिन उसे उस प्रदूषण से बचाए रखना होगा। गांव से शहर की ओर होते पलायन को रोकना होगा। इस संबंध में पंचायतों के जरिये ग्रामीण विकास का सपना सच करने की कोशिश शुरू करने के पीछे काफी हद तक यही सोच है कि गांव से पलायन रूकना ही चाहिए। गांव की जिंदगी में पालतू पशुओं एवं जीवों से जैसे मनुष्य का आत्मीय संबध होता है वैसा शहरों में देखने को नहीं मिलता है। गांव में लोग पशु पक्षियों को अपने जीवन के सुख दुख का सहभागी और सहयोग मानते हैं और उनके साथ पारिवारिक सदस्य जैसा व्यवहार करते हैं। गांव का पर्यावरण बदल रहा है यह सामाजिक, आर्थिक सभी दृष्टियों से प्रभावित हो रहा है। उदाहरण स्वरूप देखें तो हम पाते हैं कि पशुओं को चराने के लिए गांव में चारागाह की व्यवस्था थी, पर आज नहीं है। पशु पालक अपने पशुओं को चराने के लिए जब निकलता है तब उसके स्वच्छंद अधिकारों पर रोक लगती है। सार्वजनिक क्षेत्र की कमी होने के कारण उसे जलालत झेलनी पड़ती है, क्योंकि उसके अपने अधिकार के साथ अपने परिवार के प्रमुख अंग उन पशुओं के अधिकार का भी लाभ नहीं मिल पा रहा है।

मानव अधिकार के अंतर्गत अपने तथा अपने परिवार की तंदुरूस्ती तथा स्वास्थ्य के लिए पर्याप्त जीवन स्तर का अधिकार सभी को है, जिसमें भोजन, वस्त्र, आवास तथा चिकित्सा सुविधा, बीमार और अशक्त होने पर सुरक्षा का अधिकार सम्मिलित है। इस अधिकार को प्राप्त करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों जैसे पौधों, जंतुओं, नदियों आदि का संरक्षण आवश्यक है। प्राचीन काल में प्रकृति पर मानव का प्रभाव क्षतिपूर्ण नहीं था इससे पर्यावरण संतुलित था। आज जनसंख्या का दबाव और उनकी बढ़ती मांग का सीधा प्रभाव प्राकृतिक संसाधनों के दोहन पर पड़ रहा है। इससे नगर ग्राम सभी क्षेत्रों में इस बात का अनुभव किया जा रहा है कि प्राकृतिक संसाधन संरक्षण की उसी पुरानी भावना को पुनः जगाया जाए। जीवन मानव का मूलभूत अधिकार है। यह मानव जीवन पर्यावरणीय दशाओं और तत्वों के पारिस्थितिकीय प्रंबधन पर आधारित है। पारिस्थितकीय संतुलन सभी जीवधारियों की उत्तर जीविता के लिए अनिवार्य है। एक संतुलित एवं उत्फुल्ल प्र्यावरण से ही सतत् विकास का प्रयास जारी रह सकता है।

मानव अधिकार के माध्यम से हम पर्यावरण को बचाने का प्रयास करतें है पर प्रदूषक तत्वों को उत्पन्न करने वाले लोग भी अपने अधिकार का प्रयोग करके अवशिष्ट का उत्सर्जन करते हैं और वह उत्सर्जन धीरे–धीरे जानलेवा होता जा रहा है। समाज के विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए हर प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों का एक सा

महत्व नहीं होता है। मिट्टी की उर्वरता जलवायु, जंगल, वनस्पति, जंतु, नदियों, सागर तथा महासागर, खनिज संसाधन और वायुमंडल के अनुगुनों पर बहुत निर्भर करती है। लेकिन प्राकृतिक संसाधन स्वयं कोई उत्पादन नहीं करते, उन्हें कमोबेश समाज द्वारा ही प्रयोग किया जा सकता है। समाज द्वारा आर्थिक वृद्धि के तीन कारको को– श्रम, उत्पादन के साधन और प्राकृतिक पर्यावरण उत्पादन के विकासार्थ मिलाकर उपयोग में लाया जाता है। लेकिन इस प्रक्रिया से प्राकृतिक संसाधनों का निशेषी करण हो रहा है तथा औद्योगिक व उपभोक्ता अपशिष्टों और गंदे बहिप्रवाहों में वृद्धि हो रही है जो पर्यावरण में प्रविष्ट हो कर उसे प्रदूषित कर रहें हैं।

मानव अधिकार का क्षेत्र दिन–प्रतिदिन व्यापक होता जा रहा है। लोगों के क्रिया कलाप पूर्णतः स्वतंत्र होते जा रहे है। जिससे मानव अधिकारों का हनन भी हो रहा है। किसानों द्वारा सब्जी की खेती में आक्सीटोन का प्रयोग कर पैदावार बढ़ाई जा रही हैं।, कृषि में अनेको कीट नाशकों का अवैज्ञानिक प्रयोग किया जा रहा है जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहा है। बढ़ती जनसंख्या की मांग को देखते हुए कृषि उत्पादकता एवं निरंतरता बढ़ाने, मृदा की गुणवत्ता सुधारने के लिए जैविक खाद कृषि अपशिष्ट और रासायनिक उर्वरकों के साथ उनकी सह क्रियाशीलता के प्रभावों की उपेक्षा की जा रही है। जबकि स्थानीय स्तर पर उपलब्ध सभी जैविक संसाधनों को एकत्र करने और उनसे प्राप्त पोषक तत्वों को कुशलता पूर्वक पुनः उपयोगी बनाने के हर संभव प्रयास किये जाने चाहिए। साथ ही जनसंख्या वृद्धि को सीमित रखने की आवश्यकता के बारे में जनता को शिक्षित करने के लिए उसे यह जानकारी देना जरूरी हैं कि हमारी भूमि, पानी वन और अन्य पारिस्थितिक संघटक कितने लोगों को सहारा दे सकते है।

पर्यावरण तथा प्रदूषण के प्रभाव से भौगोलिक परिवेश व मानव जीवन का कोई भी पहलू अछूता नही रह पाया है। मानव अपनी समस्याओं के निवारण व विकास के लिए कई प्रकार के वैज्ञानिक उपकरणों को प्रयोग करता है परंतु समग्रतः इसका प्रभाव समानुकूल नहीं होता। इससे प्रदूषण की जड़े मजबूत होती हैं। पंचायतों के माध्यम से जनसहयोग एवं सहभगिता की भावना का विकास कर जीवन दायिनी पारिस्थितिकीय प्रणाली को संतुलित बनाये रखा जा सकता है। साथ ही सतत विकास की अवधारणा को भी मूतरूप दिया जा सकता है। सतत विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें उचित प्रौद्योगिकी व्यवहार से प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग और पर्यावरण के बीच संतुलन बना रहता है। इससे मानव समाज की क्षमताओं और जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि होती है।

पंचायती राज प्रणाली से गांवों की सामाजिक व्यवस्था में सार्थक, संरचानात्मक एवं प्रकार्यात्मक परिवर्तन हुआ है। सिद्धांतः ग्राम पंचायत स्थानीय स्तर पर सर्वोच्च स्वशासन सत्ता के रूप में गांव के समग्र विकास का दायित्व लिए हुए है। पंचायत अधिनियम 1996 में भूमि, वन, जल एवं अन्य स्थानीय संसाधनों का प्रबंधन एवं नियंत्रण पंचायतों को सौंप दिया गया है। गांव की भौगोलिक परिस्थितियाँ एक समान न होने के कारण उनके विकास की समान नीतिगत व्यवस्था विकास में बाधक ही हो जाती है। गांव में जल निकासी प्रणाली की व्यवस्था कहीं–कहीं अत्यंत जटिल दिखाई पड़ती है। सड़कों का निर्माण, तालाबों के निर्माण में जल अपवाह और ढाल को नजर अंदाज करके सही स्वरूप नहीं प्राप्त हो सकता है। इन सब में अधिक मात्रा में धन व्यय होता है फिर भी सही दिशा न होने से अपव्यय साबित होता है। ग्राम प्रधानों को इस दिशा में सामूहिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है जिनमें आपदा प्रबंधन, जल संरक्षण, भूमि जल संचय आदि के बारे में आधारभूत जानकारी दी जाए जिससे विकास कार्यो में लगा धन अपव्यय का रूप न ले। आपदा के संबंध में ग्राम पंचायत को यह अधिकार दिया गया है कि अपने क्षेत्र में हुई आगजनी, महामारी या अन्य किसी भी प्रकार के हुए हादसों से प्रभावित परिवार को सहायता प्रदान करें। लेकिन इसके साथ आपदा प्रबंधन की दिशा में भी प्रयास होने चाहिए। पंचायत स्तर पर आपदा प्रबंधन की सफलता सबसे अधिक इस बात पर निर्भर करती है कि जन सहभागिता किस तरह की और किस हद तक प्राप्त हो सकी है। जब तक स्थानीय नागरिक आपदा के प्रति सजग होकर राहत एवं बचाव कार्य में हिस्सा नहीं लेते तब तक आपदा प्रबंधन का उद्देश्य अधूरा ही रह जाऐगा। जिसका सीधा प्रभाव पर्यावरण और मानव अधिकार के हनन पर पड़ेगा।

पंचायतों के विकास में सबसे बड़ी बाधा पंचायतों के स्वरूपए व संगठन में देशभर में व्याप्त विषमता एवं विभिन्नता है। ग्राम पंचायतों का भौगोलिक क्षेत्रफल तथा जनसंख्या अनुपात भी सभी राज्यों में भिन्नता लिए हुए है। स्थिति यह है कि केरल में ही इडुक्की जिले की एक ग्राम सभा बट्टाबडा में 4508 जनसंख्या है तो इस जिले की मुन्नार ग्राम पंचायत की जनसंख्या 74343 है। इसी राज्य में बल्लापट्टनम कन्नूर का क्षेत्रफल 2.4 वर्ग किमी0 तो इडुक्की जिले की ग्राम पंचायत कुमिली का क्षेत्रफल 7.95 वर्ग किमी है। सन् 1991 की जनगणना के अनुसार केरल में ग्राम पंचायतों की औसत जनसंख्या 25200 है जबकि राजस्थान में यह 5400 है। इन भिन्नताओं के लिए एक ऐसे मान्य प्रतिमान को विकसित करने की आवश्यकता है जिसे प्रायः सभी राज्यों एवं स्थानों पर लागू किया जा सके।

राष्ट्रीय विकास की दिशा में पंचायतों का सशक्त और सुव्यवस्थित होना समय की आवश्यकता है। खाद्य पदार्थों में मिलावट की विभीषिका, नकली दवाइयाँ, पेयजल में बढ़ती विषाक्तता और आतंकवाद का खतरा अब नगरों से गांवों की ओर जा रहा है। इन सब के प्रति सचेष्ट होने के लिए तत्संबंधी जानकारी एवं प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए ग्राम समूहों के बीच नोडल केंद्र की व्यवस्था होनी चाहिए। इसके माध्यम से पर्यावरण प्रबंधन, आपदाप्रबंधन, भूमि प्रबंधन, जल प्रबंधन, की दिशा में नागरिकों को प्रशिक्षण के साथ–साथ ग्रामीण युवाओं को संगठनात्मक भागीदारी देकर उनका सहयोग लिया जा सकता है।

पर्यावरण, पंचायतें एवं मानवाअधिकार की त्रिवेणी में अवगाहन करते हुए आज हमें उन सभी तथ्यों का दिग्दर्शन हो रहा है जो भारत के विकास पथ के निर्माण सामग्री के अवयव है परंतु उन्हें यथोचित ढंग से प्रयोग न करने के कारण विकास पथ पर अवरोध बन गये है। देश में पंचायतें जिन्हें चार्ल्स मैटकाफ ने लघु गणराज्य का नाम दिया था। उन्हें धर्म निरपेक्षता के आधार पर विकास के सभी संसाधनों का प्रयोग सतत विकास की प्रक्रिया के आधार पर करना चाहिए। विकास की अवधारणा में इस बात पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है कि मानवाधिकार की सीमा में उसके व्यापक अर्थों में पर्यावरण संतुलन बना रहे जिससे आने वाली पीढ़ी पंचायतों के विकास की दिशा में सुख शांति का अनुभव प्राप्त कर राष्ट्र को मजबूत करने में अपना योगदान देने को तत्पर हो।

* * * *

खाप के खौफ में*

आकांक्षा पारे 'काशिव'

30 मार्च
3 नवंबर
17 जुलाई
16 मई
9 मई
11 नवंबर

यह महज चंद तारीखें नहीं हैं। यह तारीखें यूं ही आकर नहीं बीत गईं। यह तारीखें इंसानियत को लहूलुहान कर हमेशा के लिए दाग दे गई हैं। इन तारीखों ने मानव के मूलभूत अधिकारों में से एक का हनन कर उनसे जीवन छीन लिया।

1978 में डच स्कॉलर ऐन नौटा ने जब पहली बार ऑनर किलिंग शब्द का प्रयोग किया था तब वह भी नहीं जानती होंगी कि वह मानव सभ्यता को एक ऐसा शब्द दे रही हैं जो बरसों रक्त सामंतवादिता का पर्याय बन जाएगा। कारो–कारी, इज्जत के नाम हत्या या ऑनर किलिंग जिस नाम से पुकारा जाए समाज के माथे पर यह कालिख का रूप एक ही रहता है।

कोई लड़की सिर्फ इसलिए मार दी जाती है, क्योंकि उसने अपनी आंखों में सुनहरे सपने अंखुआने दिए। किसी को सिर्फ इसलिए मार दिया जाता है कि वह अपनी मर्जी से पसंद के साथी के साथ एक राह पर चल देती है। या कोई महज चैट करती पकड़ी जाने पर कत्ल कर दी जाती है। प्रेम के बदले तो जीवन मिलता है लेकिन देश के कुछ हिस्से प्रेम के बदले मौत का फरमान सुनाते हैं। यह भारत ही नहीं विश्व के और कई हिस्सों में फैला है। ऑनर किलिंग के दानव ने कितनी लड़कियों को, कितने प्रेमी जोड़ों को लील लिया है इसकी कोई गिनती नहीं है।

***मैसूर (कर्नाटक) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

अपनी इच्छा से शादी करना हर वयस्क का संवैधानिक अधिकार है। सामुदायिक हकीकत से टकराएं तो पता चलता है कि मां–बाप की इच्छा या सामुदायिक नियमों के खिलाफ शादी करने वालों को इतनी मुसीबतों का सामना करना पड़ता है, उसका अंदाजा उन लोगों की मौत की संख्या देती है। ऐसे मामलों में परिवार सजा नहीं देता तो समाज, जाति और पंचायत सजा देना का ठेका ले लेती है।

इन मामलों में कभी–कभी पुलिस की भूमिका भी संदिग्ध हो जाती है। कई बार पुलिस सहयोग नहीं करती और प्रेम भयावह सच्चाई में तब्दील हो जाता है। भयावह सच्चाई में तब्दील हो जाता है। प्रेम का यह रूप तब भयावह हो जाता है जब कोई दलित, सवर्ण को जीवन साथी के रूप में चुनने का 'दुस्साहस' करते हैं। उनके इस दुस्साहस के लिए यह सजा सिर्फ प्रेमी जोड़े ही नहीं भुगते बल्कि उनके परिवार और नजदीकी रिश्तेदार और पड़ोसियों को भी भुगतना पड़ती है।

कोई दलित लड़की जब किसी सवर्ण लड़के से शादी करती है तो ताकतवर लोग इसे अपने अहं पर लेते हैं। उनके सीने पर करारी चोट लगती है और एक निर्मम आवाज आती है, 'तुम्हारी इतनी हिम्मत ? अब हमारे लड़कों को दामाद बनाओगे ?' 30 मार्च 2001 को डॉ0 नाज परवीन और कासिफ जमाल की मुजफ्फरनगर के भीड़ भरे इलाके में दिन–दहाड़े चाकू मार कर हत्या कर दी गई। मौके पर पहुंची पुलिस ने जब जमा भीड़ से हत्यारे के बारे में पूछा तो समवेत स्वर में आवाज आई, 'हमने की है हत्या।' यह दुस्साहस ही बताना है कि मौत का फरमान जारी करने वाली खाप पंचायतों का सामाजिक रूतबा क्या है ?

'खाप पंचायत' शब्द अब ऐसा शब्द हो गया है, जिसे पिछले कुछ सालों में न जाने कितनी बार दोहराया गया है। कुछ सालों से खाप पंचायतें चर्चा का आम विषय हैं। उन पर आरोप लगते हैं कि पंचायतें गांव के लड़के–लड़कियों को मौत का फरमान सुना रही हैं। उन्हें अपनी मर्जी से प्रेम करने से रोकती हैं और शादी के बाद भी समगोत्रिय का बहाना बना कर पति–पत्नी को भाई–बहन के रिश्ते में तब्दील कर देती है। पंचायतें भले ही अपना कितना भी साफ पक्ष रख अपनी छवि बदलने की कोशिश करें लेकिन हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और राजस्थान की घटनाएं बताती हैं कि खाप पंचायतों की भूमिका संदिग्ध रही हैं। वे हत्याओं में पत्यक्ष रूप से शामिल भले ही न रहें लेकिन परोक्ष रूप से प्रेमी जोड़ों के खिलाफ ही रहती हैं। पंचायतें शांति से मामलों को निपटाने के बजाए फरमान जारी करती हैं। क्या भारत में बेटियों की जान इतनी सस्ती है कि उन्हें कोख में मारा जा सकता है, बड़े होने पर काटा जा

सकता है या जरूरत होने पर चंद सिक्कों में उसका सौदा किया जा सकता है।

अगर हरियाणा, राजस्थान, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में लड़कियां प्रेम की बलि चढ़ती हैं, तो कोलकाता, ओड़ीशा में लड़कियां कभी परिवार के सदस्यों, तो कभी किसी परिवार के लोगों के हाथों बिक जाती हैं। मानव देह व्यापार यानी हयूमन ट्रैफिकिंग उनका जीवन ऑनर किलिंग की तरह एक झटके में भले ही खत्म नहीं करता बल्कि उन्हें तिल–तिल रोज मारता है। मेवात इलाके की 'पारो' में तब्दील हो गईं लड़कियां अपनी देहरी को भूल कर वहीं की हो कर रह जाती हैं। उन पर एक परिवार थोप दिया जाता है। इसमें वे होती हैं और होते हैं उनके पति। परिवार के नाम पर वे चार–पांच मर्दों के साथ रह कर उनका घर संभालती हैं और बदले में हर साल कोख में एक बीज मिलता है। हरियाणा के कैथल जिले की बबली काट दी जाती है और राजस्थान के मेवात की सुरजना पारो बन कर लात और घूंसों से पिटती है। अप्रैल 2007 में मनोज–बबली जब दिल्ली से कार्ट की पेशी से लौटते हुए अचानक गायब हुए तो 23 जून 2007 को लाश के रूप में ही मिले। मामला अदालत में लंबा चला और 30 मार्च 2010 को एतिहासिक फैसला सुनाते हुए अदालत ने बबली के पांच नजदीकी रिश्तेदारों को फांसी की सजा सुनाई। लेकिन मनोज–बबली की तरह मनोज और आशा, मीनाक्षी और गुरजीत और पत्रकारिता जैसे तेज–तर्रार पेशे से जुड़ी अनुपमा इतनी खुशकिस्मत नहीं है कि उन्हें इंसाफ मिल सके।

लेकिन इन मामलों को राष्ट्रीय स्तर पर उठाने और इतनी पुरजोर मांग का असर यह हुआ कि 19 जून 2011 का दिन इतिहास में दर्ज हो गया। इस दिन नई दिल्ली में सुप्रीम कोर्ट की एक खंडपीठ ने खाप पंचायतों को एक तरह से चेतावनी दे डाली। जस्टिस मार्कंडेय काटजू और जस्टिस ज्ञान सुधा मिश्रा की खंडपीठ ने अपने फैसले में खाप पंचायतों को अवैध करार देते हुए उन्हें सख्ती से बंद करने को कहा। अपने फैसले में उन्होंने कहा खाप पंचायतों ऑनर किलिंग को प्रोत्साहित करती हैं और इनके द्वारा लडके–लड़कियों पर अत्याचार होता है। सांमती सोच की इस संस्था पर रोक के लिए भले ही यह पहला कदम हो लेकिन मंजिल तक पहुंचने के लिए यह रास्ता तो है ही।

अगर ऐसे रास्ते बनते गए तो मानव अधिकार की आवाज नक्कार खाने में तूती की तरह नहीं होगी, मानव अधिकार दुनियावी मांग होगी और लड़कियां न खरीदी–बेची जाएंगी न इज्जत के नाम पर कत्ल होंगी।

* * * *

महिला सशक्तीकरण, पंचायतें तथा मानव अधिकार*

डॉ. प्रतिभा

एक पतंग आकाश पर है डोलती
कसे हुए तनावों का यह बंद बंद खोलती
और ऊपर और ऊपर जा रही
मस्त और बेहोश होकर
तैरने लगती है जब
कोई खींच लेता डोर
वह कटी पतंग अब जाकर गिरी है यह कहाँ
पीपल की टहनी में उलझी तड़फती यहाँ–वहाँ
यह कैसे इतनी ऊँची उड़ी है।
जैसे यह पतंग न थी
कोई स्त्री की जात थी
डोर इसकी भी किसी अनचीन्हे के हाथ थी।

दूसरे हाथों में अपनी डोर पकड़ाने की छटपटाहाट की ओर इंगित करती यह तस्वीर है भारतीय स्त्री की।

प्राचीन युग में कभी पुरूषों के समकक्ष प्रायः सभी अधिकार भोगने वाली यह स्त्री धीरे–धीरे एक विशिष्ट दायरे में सिमट कर अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सभी अधिकारों से वंचित होती चली गयी, जिसके विषय में पुनः चिंतन स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ–साथ हुए सामाजिक–धार्मिक पुनर्जागरण आन्दोलन के समय ही हो सका।

---

*कोचीन (केरल) में आयोजित राष्ट्रीय मानव संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

स्वतंत्र भारत में लैंगिक भेदभाव को अवैधानिक घोषित करते हुए स्त्रियों को पुरूषों की बराबरी का दर्जा दिया गया। राजनैतिक क्षेत्र में भी उन्हें वोट देने, चुनाव लड़ने और जीतने पर ऊँचे से ऊँचा पद पाने का अधिकार दिया गया। किंतु वास्तविकता में यह मात्र सैद्धान्तिक कवायद सिद्ध हुई। व्यावहारिक स्तर पर स्त्री अभी भी घर, परिवार, समाज राजनीति और अर्थ– सभी क्षेत्रों में शोचनीय स्थिति में थी। विशेषकर भारत के 'आत्मतत्त्व' कहे जाने वाले गांवों में अधिसंख्य स्त्रियाँ, पिता, भाई, पति, पुत्र के रूप में पुरूष पर निर्भर, निर्णयात्मक शक्ति से हीन, पौष्टिक भोजन व शिक्षा से वंचित, घरेलू और बाहरी काम का दोहरा बोझ ढ़ोती, दोहरे सामाजिक मापदण्डों को झेलती, आर्थिक–शोषण के दंश को झेलती जीने को विवश थी।

स्थापित सत्य यह है कि स्त्रियों को विकास प्रक्रिया से अलग रख किसी भी देश का विकास संभव नहीं है। कुल मानव संसाधन का अर्धांश निर्मित करने वाली भारतीय स्त्री की भी विकास की राजनैतिक प्रक्रिया में सहभागिता उतनी ही महत्वपूर्ण है, समानता और विकास दोनों ही दृष्टि से।

इसलिए नब्बे के दशक में स्त्री–सशक्तीकरण की विचारधारा ने जोर पकड़ा। स्त्री–सशक्तीकरण अर्थात् स्त्री के स्तर और आत्माविश्वास में वृद्धि। यह स्तर और आत्माविश्वास तभी बढ़ेगा जब सभी स्तरों पर निर्णय लेने में सहभागिता होगी, सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों में सहभागिता होगी, रोजगार में सहभागिता होगी। दूसरे अर्थों में, स्त्रियों के सामाजिक–सांस्कृतिक, नागरिक, राजनैतिक और आर्थिक सभी अधिकार पुरूषों के साथ समानता के स्तर पर न केवल संवैधानिक रूप से, बल्कि वास्तविकता में भी सुरक्षित हो तभी सशक्तीकरण संभव है और तभी संभव है स्त्री की अंतर्निहित असीम सम्भाव्य ऊर्जा का गतिज ऊर्जा में परिवर्तन और तभी संभव है नीति आधारित क्षेत्रीय और राष्ट्रीय विकास।

नव सहस्राब्दी में नव–संकल्प का सूत्रपात किया भारत ने वर्ष 2001 को स्त्री–सशक्तीकरण वर्ष घोषित करके। किंतु इस दिशा में मील का पत्थर सिद्ध हुए 73 वें और 74वें संविधान संशोधन, जिनकी बदौलत आज लगभग 15 लाख स्त्रियाँ भारत की जमीनी लोकतांत्रिक संस्थाओं के सदस्य और अध्यक्ष पद पर काबिज हैं। इन संशोधनों द्वारा सुलभ किए गए आरक्षण की अनिवार्यता की मजबूरी ही है कि पंचायती राज के माध्यम से ये भारतीय स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकल कर वार्ड पंच, सरपंच, पंचायत समिति सदस्य, प्रधान जिला परिषद सदस्य तथा जिला प्रमुख के पदों को प्राप्त कर नेतृत्व को चुनौतियों से दो–चार हो रही हैं। और इस तरह लोकतंत्र को

समाज की जड़ों तक ले जाने का गांधी का स्वप्न साकार होता नजर आ रहा है।

किंतु इस स्वप्न की राह एकदम आसान हो, ऐसा भी नहीं था। पंचायती संस्थाओं में स्त्रियों के आरक्षण के प्रारम्भिक चरण में राजनैतिक पार्टियों तथा स्त्री संगठनों सहित सभी संदेह से युक्त थे और फूँक–फूँक कर कदम रख रहे थे। राजनैतिक दलों को पर्याप्त संख्या में स्त्री उम्मीदवार प्राप्त कर पाने में भी संदेह था, जिसके लिए स्त्री–संस्थाओं और गैर सरकारी एजेन्सियों ने अनेक जन–चेतना अभियान छेड़े।

आरक्षण की क्रियान्विति में भी 'राजनीति' ने प्रवेश कर लिया। आरोप सामने आए कि अनेक स्थान पर सदस्य अथवा अध्यक्ष पद के वही स्थान स्त्रियों के लिए आरक्षित किए गए जो सत्तारूढ़ दल के लिए असुविधाजनक हो। यथा पंजाब में स्त्री–अध्यक्ष वाले पद उन्हीं पंचायत समितियों में आराक्षित किए गए जहाँ विपक्षी दल के समर्थन का बाहुल्य था। सत्तारूढ़ दल के पुरूषों ने अपने लिए उन पंचायत समितियों में स्थान रखे जहाँ उनका बहुमत था। यही नहीं, एक तिहाई से कम आरक्षण स्त्रियों के लिए न हो, विधेयक के इस प्रावधान का लाभ उठाते हुए कुछ राज्यों ने स्त्रियों के लिए थोड़ा ज्यादा कोटा रखा जैसे– कर्नाटक ने 43.6 प्रतिशत और पश्चिम बंगाल ने 35 प्रतिशत। स्पष्टतः यह अतिरिक्त आरक्षण स्त्री शक्ति और ग्रामीण भारत के सामाजिक विकास में उस शक्ति के योगदान को मान्यता देने के स्थान पर मात्र उस अनुमान के कारण था कि स्त्रियाँ आसानी से चुनाव जीत जाएंगी और तब बाद में पुरूषों, समुदायों तथा राजनैतिक दलों द्वारा उनका अपने पक्ष में मनचाहे ढ़ंग से इस्तेमाल किया जा सकेगा। इसी संदर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि 1993 के अधिनियम के अंतर्गत पश्चिम बंगाल में स्त्री–सदस्यों के लिए ज्यादा सीटें आरक्षित की गई और तीनों स्तरों पर अध्यक्ष पद के लिए कोई स्थान ही आरक्षित नहीं किए गए।

एक भ्रामक स्थिति यह भी रखी गई कि सालों तक स्त्रियों को सामान्य रूप से आरक्षित सीटों तक ही मान लिया जाता रहा। अनारक्षित सीटों पर उनके लड़ने की कल्पना ही नहीं की जाती थी। एक प्रकार से यह स्त्रियों में भ्रम उत्पन्न कर उन्हें हाशिए पर लाने का प्रयास ही कहा जा सकता है और पंचायती राज के माध्यम से सत्ता के केंद्र में आ जाने वाली स्त्रियों के लिए भी स्थितियाँ विषम ही रहीं। राजस्थान में पिछले वर्ष पंचायती राज के स्वर्ण जयन्ती के मौके पर कराए गए विभिन्न सर्वेक्षणों से सिद्ध हुआ कि अधिकांशतः प्रभावशाली व्यक्ति अपने ही परिवार की स्त्रियों को पंचायती संस्थाओं की राजनीति में लाकर कर बाद में लाभ उठाते हैं। ग्राम पंचायत में

यदि सरपंच स्त्री है तो SP (सरपंच पति) और SDM (सरपंच दा मुंडा) जैसे पद स्वतः ही सृजित हो जाते हैं, जिन्हें आमजन से लेकर अफसरों तक की मान्यता भी रहती है। यह भी पाया गया है कि संस्थाओं की अधिकांश बैठकों में स्त्रियाँ या तो उपस्थित नही रहतीं, या फिर घूँघट में रहती हैं।

पदासीन स्त्रियों को अपने संवैधानिक अधिकारों का उपभोग करने के लिए एड़ी–चोटी का जोर लगाना पड़ता है। संबद्ध कानून की कुछ कमियां भी उनके विपक्ष में हैं। पंचायती राज अधिनियम में स्त्रियों के लिए आरक्षण, अविश्वास प्रस्ताव, धारा 40 के अंतर्गत भ्रष्टाचार को रोकने के लिए प्रावधान तो हैं, किंतु स्त्री–प्रतिनिधियों को कोई विशेष सुरक्षा नहीं। उन्हें पंचायतों में अपना दायित्व निभाने में बाधा उत्पन्न करने वालों के विरूद्ध किसी कार्रवाई का प्रावधान नहीं। उन्हें स्वयं पर हिंसा होने की स्थिति में फौजदारी कानून के अंतर्गत न्याय मांगना होता है। परिणामस्वरूप आए दिन जुझारू और कर्मठ स्त्री–पंचों, सरपंचों के विरूद्ध हिंसा और प्रताड़ना की घटनाएं होती है।

कुछ उदाहरण प्रस्तुत है हरियाणा के पानीपत जिले के कच्छखो गांव में दलित स्त्री सरपंच जिंदन बाई को एक जमीन के सौदे के बारे में पूछताछ करते हुए मार खानी पड़ी।

पंचयती राज के पहले कार्यकाल में मध्य प्रदेश के मंदसौर जिले की अम्बा ग्राम पंचायत में स़्त्री सरपंच की उसके पति द्वारा ही हत्या कर दी गई, कारण कि वह ग्राम पंचायत मीटिंग में जाकर ग्राम विकास के प्रश्न उठा रही थी।

मध्य प्रदेश के भिंड जिले के हरपुरा के ग्राम में एक स्त्री के दोनों हाथ तोड़ दिए गए। मध्य प्रदेश के बैतूल जिले की डुगारिया ग्राम पंचायत में कथित भ्रष्टाचार के खिलाफ स्त्री पंच द्वारा आवाज उठाए जाने पर उसे मीटिंग में बुलाया जाना ही बंद कर दिया गया। पंचायत दस्तावेजों में सरपंच द्वारा जाली हस्ताक्षर ले लिए गए। उसके साथ दुराचार हुआ, जिसकी रिपोर्ट नहीं लिखी गयी। कलेक्टर, एस.पी. और मुख्यमंत्री को पत्रों के बावजूद सुनवाई नहीं हुई तो उसने 20 नवम्बर 2007 को बैतूल के कलेक्टर कार्यालय में आत्महत्या कर ली।

स्त्री संरपचों को भ्रष्टाचार के झूठे मामलों में फँसाकर उपसरपंचों द्वारा स्वयं सरपंच बन जाने की घटनाएं भी सामने आई हैं।

रोटेशन व्यवस्था के कारण जब स्त्रियों के लिए आरक्षित सीटें सामान्य हो जाती हैं, तो स्त्रियाँ पुनः उन सीटों पर चुनाव लड़ने का साहस नहीं दिखा पाती। कारण पारिवारिक–सामाजिक दबाव कुछ भी हों। 2008 के एक सर्वेक्षण के अनुसार

मात्र 11 प्रतिशत स्त्रियों ने यह साहस दिखाया और वे भी हार गई। एक तिहाई स्त्रियों ने माना कि उनके पतियों ने उन्हें दुबारा चुनाव लड़ने के लिए हतोत्साहित किया।

किंतु तस्वीर के इसी धुंध से उम्मीद की किरण फूटती है और उजास की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। कहा जाता है कि सशक्तीकरण की प्रक्रिया सबसे पहले स्वयं से शुरू होती है और तब समूह, समाज और राष्ट्र सशक्त होते हैं। पंचायती राज आरक्षण से भी सबसे पहले स्वयं स्त्रियों को उनके अस्तित्व का आभास हुआ। वर्जनाएं टूटीं, परम्पराओं में परिवर्तन हुए और घूँघट में ही सही, स्त्रियाँ चुनाव लड़कर पंच–सरपंच पद पर पहुँची। समाज में परिवर्तन की बयार बही, सामाजिक बंधन ढीले पड़े। पिता अपनी पुत्रियों को ही नहीं, पति अपनी पत्नियों और सास–ससुर अपनी बहुओं को भी शिक्षित करने लगे।

निसंदेह इस सारी प्रक्रिया में स्त्रियां स्वयं में सशक्त हुई हैं और हो रही हैं जिसका प्रमाण है स्त्रियों में आत्मविश्वास बढ़ा है, उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली हुआ है, लिंग भेद में कमी आई है और स्त्री साक्षरता में वृद्धि हुई है। स्त्रियों में सामाजिक जागरूकता आई है, वे स्वास्थ्य और स्वच्छता के प्रति सजग हुई हैं, उनके रहन–सहन के स्तर और और सत आय में वृद्धि हुई है, घरेलू बचत और जमा–राशि पर उनकी पहुँच बढ़ी है, पारिवारिक बजट और आय–व्यय के प्रबन्ध में भी उनकी भागीदारी बढ़ी है और उद्यमियों की संख्या भी बढ़ी है।

पंचायती राज व्यवस्था से उभरे नए स्त्री नेतृत्व अर्थात् सशक्त स्त्री– समूह ने शनैः–शनैः ही सही, पंचायती कार्यों के जिम्मेदारीपूर्ण निर्वहन से समाज पर गुणात्मक प्रभाव डालना प्रारम्भ किया है। स्वाभाविक तौर पर उत्साह, निष्ठा, कर्मठता और धैर्य आदि के गुणों से युक्त स्त्री– प्रतिनिधि अपने क्षेत्रीय परिवेश, उसके सुख–दुख और नकारात्मक–सकारात्मक प्रभावों से गहराई से जुड़ी होती हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि गाँवों में पेयजल, स्वास्थ्य, परिवार कल्याण स्वच्छता, निरक्षता, लॉटरी, मदिरापान, अंधविश्वास आदि से संबद्ध समस्याओं पर पहले की अपेक्षा तीव्र गति से तथा तुलनात्मक दृष्टि से अधिक आत्माविश्वासपूर्ण निर्णय स्त्रियाँ ले रही हैं। और जातीय तथा लैंगिक समानता के भी नए प्रतिमान भी उपस्थित हो रहे हैं। पंचायतों में लड़ाई–झगड़े की आशंकाए कम हो गई हैं। आशय यह कि पूरा परिदृश्य बदलने लगा है।

धीरे–धीरे दिन प्रतिदिन की समस्याएँ सुलझाते और लघु स्तर की योजनाएं बनाते–बनाते बड़े और पेचीदा मसले उठाने और सुलझाने में ये स्त्रियां कब सक्षम हो

गयी, पता ही नहीं चला।

भ्रष्टाचार में गुणात्मक कमी देखने में आयी है। राजस्थान में अलवर जिले के नीमूचाना ग्राम पंचायत की सरपंच कोयली देवी ने अपने ही ससुर और पति को नोटिस जारी किया कि वे बताएं कि पंचायत की जमीन हड़पने की वजह से उनके विरूद्ध कार्रवाई क्यों न की जाए।

आर्थिक सबलीकरण की दिशा में भी पर्याप्त काम हुआ है। हरियाणा की खोबी ग्राम पंचायत की सरपंच ने सबसे पहले सार्वजनिक जमीन को दो वर्ष के लिए रु0 60,000 के पट्टे पर दिया जो पहले पांच वर्ष के लिए मात्र रु0 20,000 पट्टे पर थी। स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से लघु–वित्त कार्यक्रमों को क्रियान्वित कर वित्त के विकेन्द्रीकरण जैसी पेचीदा गतिविधियाँ भी अत्यन्त सहजता से पूरी की जा रही है।

इस प्रकार पंचायती राज की आरक्षण प्रक्रिया से सशक्त स्त्री ने क्रमशः राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक सशक्तीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ की है। 4 जून 2009 को संसद के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए राष्ट्रपति ने पंचायत में स्त्रियों के आरक्षण की सीमा 50 प्रतिशत तक करने के लिए संवैधानिक संशोधन की घोषणा की। कुछ राज्यों में पहले से ही ऐसा है, सम्पूर्ण स्त्री पंचायतों का प्रयोग भी सफलतापूर्ण कुछ राज्यों में चल ही रहा है, जहाँ पंच–संरपंच सभी स्त्रियाँ निर्विरोध निर्वाचित हैं।

कुछ प्रयास केंद्र तथा राज्य सरकारों और संबद्ध सरकारी– गैरसरकारी एजेन्सियों को भी करने होगें। यथा–

- प्रत्येक वर्ष विभिन्न रिफ्रेशर पाठ्यक्रमों के द्वारा प्रतिनिधियों को अधिक योग्य और सक्षम बनाया जाए।
- पंचायती राज अधिनियम में स्त्रियों को विशेष सुरक्षा प्रदान करने वाले संशोधन किए जाएं। ऐसा हो कि उनके विरूद्ध हिंसा होने पर विशेष धाराओं के तहत अपराधियों पर मुकदमे हों।

निःस्संदेह इन प्रयासों से सशक्तीकरण की यह प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त कर सशक्त भारत के निर्माण में सहायक होगी।

* * * *

वैश्वीकरण,महिलाएं व मानव अधिकार*

डॉ0 ममता चन्द्रशेखर

वर्तमान परिप्रेक्षय में वैश्वीकरण का तात्पर्य एक ऐसे विश्व से है जिसमें राष्ट्रीय सीमाओं और दूरियों से परे एकीकृत व्यवस्था, प्रावधान व प्रक्रियाओं में समानता हो। विद्वान इसे भूमण्डलीकरण, पश्चिमीकरण, अर्न्तराष्ट्रीयकरण, सार्वभौमीकरण, विकेन्द्रीकरण एवं वि–सीमान्तीकरण जैसे शब्दों से भी सम्बोधित करते हैं।

मानव अधिकार, सम्प्रति विश्व का सर्वाधिक ज्वलंत विषय है। यह एक व्यापक संकल्पना है जो किसी एकांकी राज्य का अनन्य विषय नही हैं अपितु यह एक सार्वभौमिक अवधारणा है, जिसमें समूचे विश्व की मानव जाति समाहित है। मात्र मानव के रुप में जन्म लेते ही व्यक्ति मानवाधिकारों का हकदार हो जाता है।

मानव के तहत स्त्री–पुरुष दोनों सम्मलित हैं। दोनों सृष्टि सृजनकर्ता हैं। एक दूसरे के पूरक व सहयोगी हैं। विधाताकृत इन अनुपम कृतियों (स्त्री–पुरुष) के बीच मानवकृत व्यवस्थायें, भेद–भाव उत्पन्न करती हैं। मानव–मानव के मध्य योग्यता – अयोग्यता जैसे तत्वों का समावेषन करती हैं और फिर व्यवस्था की आड़ में मानव अधिकार और महिलाधिकार हनन शुरु हो जाता है । प्लेटो, मिल, माओ जैसे युग पुरुषों ने महिलाओं की क्षमता का सम्मान करते हुए उनके अधिकारों की पैरवी की है। उनके महत्व को स्वीकार करते हुए, उन्हें मुख्य धारा से जोड़ने का प्रयास किया है।

18वीं सदी में उद्‌गमित औद्योगिक क्रान्ति ने नगरीय संस्कृति, एकल परिवार व भौतिकतावाद को जन्म दिया फलस्वरुप महिलाएं घर से बाहर निकल पर आर्थिकोर्पाजन करने लगी। इस अवस्था में इन्हें आर्थिक असमानता व अनेक विपरीत परिस्थितियों का सामना करना पडा । इसलिए महिलाओं को संगठित होकर भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाना पडी। 1840 में लुक्रीशिया की अखेत महिलाओं ने समान अधिकार की जोरदार मांग की। 08 मार्च 1857 को न्यूर्याक के सिलाई उद्योग व वस्त्र उद्योग में कार्यरत

***तेजपुर (असम) में आयोजित राष्ट्रीय मानव संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

महिलाओं ने समान वेतन एवं दिन में मात्र 10 घण्टों के कार्य निर्धारण के लिये हडताल की। यह हड़ताल इतनी व्यापक व सशक्त थी कि इसकी याद में आज तक प्रतिवर्ष 8 मार्च को अर्न्तराष्ट्रीय महिला दिवस मनाया जाता है।

1904 को संयुक्त राष्ट्र अमेरीका में "अर्न्तराष्ट्रीय महिला मताधिकार समिति" की स्थापना की गई। काफी लम्बे संघर्ष के उपरान्त सर्वप्रथम न्यूजीलैन्ड ने महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया, इसके पश्चात आस्ट्रेलिया सहित अन्य राष्ट्रों ने भी महिलाओं को मताधिकार दिया। यह गर्व का विषय है कि बिना किसी संघर्ष के, भारतीय महिलाओं को, देश की स्वतंत्रता के साथ ही मताधिकार भी प्राप्त हो गया।

द्वितीय विश्व युद्ध की भीषणता व मानवीयता के हनन की रोंगटे खड़े कर देने वाली घटनाओं ने मानव अधिकारों की अवधारणा में अभूतपूर्व बदलाव किये। 24 अक्टूबर 1945 को संस्थापित संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी विश्व स्तरीय संस्था ने स्त्री–पुरुष समानता के सिद्धान्त को अपने चार्टर में समाहित किया। चार्टर में उल्लेखित किया गया कि मानव जाति की गरिमा व अधिकारों के संरक्षण और विश्व शान्ति के उद्देश्य से स्थापित इस संस्था में किसी प्रकार का

लिंग भेद नही होगा। वर्ष 1966 में महासभा द्वारा अंगीकृत "नागरिक व राजनीति अधिकारों की अर्न्तराष्ट्रीय प्रसंविदा" के अनुच्छेद 10 में मातृत्व अधिकार एवं अनुच्छेद 24 में स्त्री पुरुष दोनों को विवाह करने व परिवार बसाने का अधिकार है।

वर्ष 1966 में अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर "महिलाओं की प्रस्थिति पर आयोग" स्थापित किया गया जो "भेदभाव की अग्राह्यता के सिद्वान्त" की अभिपुष्टि करता है। 1967 में महिलाओं के विरुद्ध विभेद की समाप्ति के लिये एक अधिनियम बनाया गया जो 18 दिसम्बर 1979 को अंगीकृत किया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव ने वर्ष 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया। 1986 में महिलाओं के लिये संयुक्त राष्ट्र विकास विधि (यूनीसेफ) की स्थापना हुई। जिसका मूल ध्येय शरणार्थी व हिंसाग्रस्त महिलाओं की सहायता करना है। 1981 में ही महिलाओं के विकास के लिये आर्थिक व सामाजिक परिषद बनायी गयी।

महिलाओं के अधिकारों के संरक्षण व अभिवृद्धि हेतु वर्ष 1975 में मेक्सिको में प्रथम, 1980 में कोपनहेगन में द्वितीय, 1983 में नैरोबी में तृतीय एवं 1995 में बीजिंग में चतुर्थ विश्व महिला सम्मेलन आयोजित किये गये।

इसके पश्चात दुनिया के लगभग सभी राज्यों ने महिलाधिकार से संबंधित कानून, नियम व अधिनियम निर्मित किये। इग्लैंड में मैट्रिमोनियल होम एक्ट 1976 व

डोमेस्टिक वायलेंस एक्ट एण्ड मैट्रिमोनियल प्रोसिडिंग्स एक्ट 1976, सेक्स डिसक्रिमिनेशन एक्ट 1975, सिविल राईट एक्ट 1964 के तहत टाईटल (कार्यस्थल पर लिंग भेद निषेध), अमरीका में द वायलेंस अगेंस्ट वीमेन एक्ट 1984, भारत में दहेज प्रतिशेध अधिनियम 1956, अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम 1986, स्त्री अशिष्ठ निरुपण प्रतिषेध अधिनियम 1986 इत्यादि एवं आस्ट्रेलिया, कनाडा, डेनमार्क, चीन, जापान आदि राज्यों में विवाहित स्त्री बलात्कार निषेध अधिनियम का निर्माण किया गया।

मानवाधिकारों की विविध व्यवस्थाओं में महिलाओं के लिये पृथक उपबंध देखकर सहसा एक सवाल उठता है कि क्या महिलायें भी मानव है? यदि हाँ तो फिर पृथक व्यवस्थाएं क्यों? दूसरी बात तमाम कानूनों की उपस्थिति में आज भी महिला उत्पीडित, अपमानित व शोषित क्यों हो रही हैं ? कहीं ऐसा तो नही कि "ज्यों–ज्यों इलाज होता गया, मरज बढ़ता ही चला जा रहा है"। हैनरी जे.स्टेनर एण्ड फिलिप एल्सटन ने अपने शोध सार में लिखा है कि "विश्व में अब तक करीब 100 करोड महिलायें लुप्त हो चुकी हैं"। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में लिंग अनुपात 940 प्रति 1000 पुरुष है। संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या कोश की वर्तमान रिपोर्ट के अनुसार भारत में 15–49 साल की 70: महिलाएं किसी न किसी रुप में हिंसा की शिकार होती है। शैक्षणिक क्षेत्र में भी महिलायें अभी भी पिछडी हुई हैं। संसुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार दुनिया की कुल आबादी का 2/3 भाग महिलाएं है लेकिन उनके पास विश्व की सम्पत्ति का मात्र एक प्रतिशत है। जबकि दुनिया की दो तिहाई महिलाएं कार्यरत हैं। विडम्बनावश महिलाओं को मात्र कमाई करने का हक तो मिला है लेकिन खुद पर खर्च करने या बचाने का हक लगभग नही के बराबर है। आज महिलायें वेतन की असमानता, कार्यस्थल पर यौन–शोषण व त्रि–बोझ –घर– नौकरी –बच्चों के भार तले दबी हैं। जॉन पेटमेन ने अपने एक अध्ययन में पाया कि "काम की तलाश में राज्यों की सीमाऐं पार करती कार्यरत महिलाओं को तरह–तरह के अनुभव होते हैं, जिनमें मुक्ति कारक एहसास से लेकर हर दर्जे का शोषण व बेहद खतरनाक परिस्थितियों का सामना करना पडता है।

विश्व प्रसिद्ध लेखिका नाओमी वुल्फ ने अपनी पुस्तक "फादर विद फादर" में महिलाओं के जीवन में आये परिर्वतन को विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका मानना है कि वैश्वीकरण के फलस्वरुप महिलाओं के लिये अनेक अवसरों के द्वारा खुले हैं। रोजगार सुलभप्रद हो गया है। वैश्वीकरण ने दुनिया को एक गाँव में बदल दिया है। अतः विश्व के किसी भी भाग में होने वाला बदलाव लगभग सभी महिलाओं को कम ज्यादा मात्रा में प्रभावित करता है। डे–केअर सेन्टर, माता–पिता का बहुधा अलग–अलग स्थानो में

नौकरियाँ करने के कारण परिवार नामक संस्था प्रभावित हुई है। रिश्तों में संवेदनशीलता की कमी आयी है। सामाजिक ढाँचे व सोच में भी चमत्कारी परिवर्तन हुआ है । आज "सिंगल वुमन वर्ल्ड" की धारणा को मजबूती मिलती जा रही है। अकेली महिला अब असहाय नही समझी जाती। शिक्षा के अधिकार कानून व रोजगार के बढते अवसरों ने महिलाओं को आत्म निर्भर बनाया है।

उच्च शिक्षा, बैकिंग, बीमा कम्पनियों, रेल्वे, हेल्थ सेन्टर, आई.टी., सेना, प्रशासनिक सेवा, पुलिस सेवा व अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों में महिलाओं ने अपनी क्षमता का परिचय दिया है। आज माओ का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि "आधा आसमान स्त्रियों ने सिर पर उठा रखा है"।

वैश्वीकरण के कारण महिलाएं आज प्लेटो की कल्पना से भी एक कदम आगे निकल गयी है। आज से 428 ई.पू. प्लेटो ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक में लिखा था – "स्त्रियां योग्य होती हैं किन्तु वे अपनी योग्यता का उपयोग घर की चार दीवारी में ही करती हैं, उन्हें अपनी क्षमता का उपयोग राजकीय कार्य में करना चाहिये"। आज महिलाएं घरेलू व राजकीय (सार्वजनिक) दोनों क्षेत्रों में संतुलित ढंग से अपने कार्य को अंजाम देकर परिवार समाज व राष्ट्र विकास में अपना महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

अतः 21वीं शताब्दी की यह महती आवश्यकता है कि महिलाओं को मानव मानकर उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाना चाहिए ताकि वे अपने अधिकारों के उपयोग की छांव तले अपना श्रेष्ठतम प्रदर्शन मानव जाति के हितार्थ कर सकें।

* * * *

सामाजिक न्याय, प्रशासन तथा मानवाधिकार*

राजेश प्रताप सिंह

वर्तमान समय में वैश्वीकरण एवं निजीकरण के चलते तमाम परिभाषाएं एवं मान्यताएं बदल गई हैं। समाज में नई–नई चुनौतियों के कारण नई–नई समस्याएं आ रही हैं और उनका समाधान भी सामान्य तरीके से होना असम्भव है।

सामान्य तौर पर सामाजिक न्याय का अर्थ है पूरे समाज में न्याय की परिकल्पना। यह व्यक्ति एवं समूह सभी के साथ न्यायोचित व्यवहार एवं समाज के फायदे में सभी की न्यायोचित भागीदारी के विचार पर आधारित है। यह सही है कि चन्द शब्दों में सामाजिक न्याय को परिभाषित नहीं किया जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि सामाजिक न्याय का कोई अर्थ ही नहीं है। यह उसी तरह से है जैसे कि नदियों को उसके किनारों से नहीं बांधा जा सकता परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि नदियों का कोई अस्तित्व नहीं है। सामाजिक एवं आर्थिक समानता ही विधि के नियम की भावना है। यह गतिशील व परिवर्तनीय आदर्श एवं बहुआयामी विचार का प्रतीक है। जस्टिस के0 सुब्बाराव ने कहा है कि सामाजिक न्याय सभी के प्रति न्यायसंगत व निष्पक्ष होता है न कि किसी व्यक्ति विशेष के प्रति। सामाजिक न्याय समाज के कमजोर वर्गों के प्रति बेहतर बर्ताव की मांग कर सकता है परन्तु यह सिर्फ समाज में व्याप्त असंतुलन को दूर करने के लिए है न कि किसी को प्रताड़ित करने या किसी के प्रति अन्याय के लिए। सामाजिक न्याय प्रमुख रूप से वह आचार संहिता है जिसे समाज बहुआयामी विकास के लिए लागू करता है और पालन करता है। क्रमिक विकास में मनुष्य अपनी बुद्धि से सर्वजेता होने का प्रयास करता है परन्तु अन्तर्ज्ञान उसे समाज में अन्य लोगों के प्रति जिम्मेदारी के बारे में बताता है जिसे वह नैतिकता के नाम से जानता है। नैतिकता और मनुष्य के सर्वजेता की इच्छा का अन्तर्द्वन्द ही मनुष्य के सामाजिक व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है। न्याय इन दोनों

---

*गुवाहाटी (असम) में आयोजित राष्ट्रीय मानव संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

अन्तर्विरोधी बलों में सामांजस्य बिठाने का नाम है, यह मनुष्य की स्वार्थपरता एवं उसके सामाजिक उत्तरदायित्वों का सामंजस्य है। सामाजिक न्याय मनुष्य के अधिकार एवं कर्तव्य, उसकी स्वतंत्रता और उत्तरदायित्व का संतुलन है तथा इस संतुलन को लागू करने के लिए समाज ने राज्य की स्थापना की और राज्य को यह अधिकार दिए कि वह इनको लागू करे।

सामाजिक न्याय का अर्थ एक ऐसे समूह से है जो मनुष्य को मनुष्य होने के नाते पवित्रता का घर मानता है और उसे पूर्ण मानवता प्राप्त करने में सहायता देता है और उन्हें एक दूसरे के प्रति प्यार, सम्मान, दया, सहिष्णुता के साथ बर्ताव करने तथा पूरे विश्व को एक अद्‌भुत कृति मानते हुए उसका सम्मानपूर्वक एवं पर्यावरणीय एवं नैतिक दायित्वों के प्रति सजग रहते हए उपयोग की अनुमति देता है।

सामाजिक न्याय के अन्तर्गत नागरिक अधिकार, मानवाधिकार, समानाधिकार सभी सन्निहित हैं।

वर्ष 1995 में कोपेनहेगेन में हुए सामाजिक विकास पर यू0एन0 का घोषणा पत्र एक ऐसा मसौदा है जो सामाजिक न्याय और मानवाधिकार तथा उसे सही सोच के साथ समाज में लागू करने के लिए प्रजातन्त्रात्मक ढांचे एवं उसे चलाने के लिए प्रशासन का लेखा जोखा प्रस्तुत करता है।

इस घोषणा पत्र में सामाजिक विकास के लिए नीतियों के निर्धारण में मानवाधिकार को केन्द्र विन्दु में रखने की बात कही गई है। इसके अनुसार प्रमुख सामाजिक समस्या जैसे गरीबी, बेरोजगारी, सामाजिक बहिष्कार सभी राज्यों को प्रभावित करती है और प्रत्येक सरकार का यह कर्तव्य है कि वह इनके कारणों और उनसे उत्पन्न विषमताओं दोनों का निवारण करे। सामाजिक विकास का तात्पर्य व्यक्ति, परिवार एवं समाज के भौतिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं को पूरी करना है। यह तभी सम्भव है जब हम समाज एवं व्यक्ति केन्द्रित विकास को अपनाएं। सामाजिक विकास में तमाम बाधाएं जिनमें प्रमुख भुखमरी, नशा, संगठित अपराध, भ्रष्टाचार, अवैध मानव एवं शस्त्र व्यापार, आतंकवाद, जातिवाद, धर्मवाद आदि हैं। इनमें से तमाम मानवाधिकारों के उल्लंघन से जुड़ी हैं इसीलिए घोषणा पत्र में मानवाधिकार एवं प्रजातन्त्र पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि बिना मानवाधिकारों की रक्षा किये प्रजातन्त्र के सामाजिक विकास होना लगभग असम्भव है। वास्तव में प्रजातन्त्र, पारदर्शी तथा जवाबदेह सरकार एवं प्रशासन समाज एवं व्यक्ति केन्द्रित विकास की नींव हैं। बिना इसके हम सामाजिक विकास की कल्पना नहीं कर सकते।

सामाजिक न्याय की परिणिति सामाजिक विकास में होती है। इसके लिए समाज को और विशेष रूप से शासन को एक ऐसी राजनीतिक, आर्थिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्श की परिकल्पना करनी होगी जो मानव–सम्मान, मानवाधिकार, समानता, इज्जत, शान्ति, प्रजातन्त्र, पारस्परिक उत्तरदायित्व एवं सहयोग तथा विभिन्न सांस्कृतिक एवं धार्मिक रूप से अलग रहने वाले समूहों का पूर्ण सम्मान पर आधारित हो। उन्हें सभी वर्गों के और विशेष रूप से सामाजिक रूप से पिछड़े एवं समाज के अशक्त वर्ग जैसे बच्चे, बूढ़े, औरत, अपंग के समस्त मानवाधिकारों और विशेष रूप से विकास के अधिकारों का सम्मान एवं संरक्षण करना होगा तथा यह सुनिश्चित करना होगा कि उनकी सामाजिक विकास में भागीदारी हो।

सामाजिक विकास या दूसरे शब्दों में सामाजिक न्याय तभी सम्भव है जब हम विकास का ढांचा मानवाधिकारों पर आधारित कर बनाएं। सामाजिक न्याय प्रजातंत्र पर टिका है। प्रजातंत्र ही एक मात्र ऐसी व्यवस्था है जिससे सबसे ज्यादा एवं लगभग अहिंसक तरीके से मानवाधिकारों की रक्षा होती है। शुरू में आत्म निर्णय के अधिकार से विदेशी शासकों से मुक्ति तो मिल जाती थी पर आन्तरिक शासकों या राज्यों के द्वारा सम्प्रभुता के नाम पर लोगों का शोषण जारी रहता था। आत्म निर्णय सीधे प्रजातन्त्र तक नहीं जा पाता था परन्तु वर्तमान में आत्म निर्णय का अर्थ लोगों द्वारा सरकार के स्वरूप को चुनना और उसमें पूर्ण भागीदारी करना हो गया है। अल्पसंख्यकों के अधिकारों पर बहस एवं उनके संरक्षण का मुद्दा प्रजातंत्र का एक अहम् पहलू है।

सामाजिक विकास के विश्व सम्मेलन ने गरीबी उन्मूलन के मानवाधिकार केन्द्रित नीतियों पर अपनाने के लिए कहा है। मानवाधिकारों का संरक्षण शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व सुनिश्चित करता है जिसके फलस्वरूप सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिरता बनती है। प्रजातंत्रात्मक समाज मानवाधिकारों का सम्मान करता है। जो समाज सामाजिक न्याय पाना चाहता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक एवं आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित करना होगा।

मानवाधिकारों की व्यापकता सिर्फ राज्यों तक सीमित न होकर निजी समूहों पर भी लागू होना चाहिए। वर्तमान में निजी अन्तर्राज्यीय समूहों की नीतियॉ समाज के एक बड़े वर्ग को प्रभावित करती हैं। आज सभी धनी एवं गरीब राज्यों पर सामाजिक न्याय तथा मानव के सम्मान हेतु दबाव बनाने की जरूरत है तभी हम गरीबी से लड़ सकेंगे और एक संतुलित समाज की स्थापना कर सकेंगे।

कल्याणकारी राज्य, जैसाकि हम लोग हैं, का यह उत्तरदायित्व होता है कि

सामाजिक हितों की सभी तरह से रक्षा करे। इन राज्यों में कानून की योजना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए की जाती है। कल्याणकारी राज्य समस्त सामाजिक समस्याओं को एक व्यावहारिक समाधान देने का प्रयास करता है। सामाजिक न्याय सभी समस्याओं को सामाजिक कल्याण के माध्यम से सुलझाने का एक प्रयास है। सामाजिक कल्याण एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य है सामाजिक न्याय की प्राप्ति। समाज कल्याण साधन है जबकि सामाजिक न्याय साध्य है।

भारत वर्ष के सन्दर्भ में सामाजिक न्याय हमारे संविधान की धुरी है। संवैधानिक रूप से राज्य समाज के सभी वर्गों का जीवन स्तर एक सामान्य स्तर तक लाने के लिए बाध्य है। सामाजिक न्याय की अवधारणा हमारे लिए इसलिए भी महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि हमारी एकता अनेकता के आधार पर टिकी है और यहाँ पर ज्यादातर लोग अशिक्षित हैं। सामाज का एक बड़ा वर्ग आज भी रोटी, कपड़ा और मकान के लिए चिन्तित है। तमाम लोग ऐसे हैं जो न्यूनतम मानवीय सुविधाओं के अभाव में जीवनयापन कर रहे हैं। जस्टिस कृष्णा अय्यर (सामाजिक न्यायः सूर्यास्त या भोर) ने सही कहा था कि भारत वर्ष में क्षेत्रवाद, जातिवाद, भाषावाद आदि ऐसी मिसाइलें हैं जो हमारे सामाजिक न्याय रूपी जहाज को मारकर गिराती रहती हैं।

हमारे संविधान की आमुख, भाग–3 और भाग–4 भारत में सामाजिक न्याय की व्याख्या करती हैं। धर्म, जाति, रंग, लिंग और जन्म स्थान के आधार पर हमारे देश में भेदभाव नहीं किया जा सकता। सार्वजनिक स्थानों पर जाने का सभी को अधिकार है। कानून के अनुसार सभी को न्याय देना, इस कानून के पीछे राज्य का अधिकार होना और न्यायालयों का यह अधिकार होना कि वह इसे उद्घोषित कर सके तथा कार्यपालिका का यह कर्तव्य होना कि इन निर्णयों को सही ढंग से अनुपालन सुनिश्चित कर सके, यह किसी भी न्यायिक समाज के प्रमुख चिन्ह हैं। सामाजिक न्याय को सभी लोगों को, सभी वर्गों को प्रदान करने के लिए सामाजिक विधिकार की परिकल्पना की गई है। भारत वर्ष में सामाजिक विधिकार निम्न प्रकार के हैं :–

1. वे कानून जो सामाजिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे अस्पृश्यता अधिनियम (Untouchability act) आदि।
2. वे कानून जो आर्थिक बुराइयों के विरूद्ध हैं जैसे जमींदारी उन्मूलन अधिनियम।
3. वे कानून जो समाज की सेवा के लिए हैं जैसे जन स्वास्थ्य एवं शिक्षा, आवास व शहरों की योजना सम्बन्धी नियम।

4. सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कानून जैसे कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम।

5. समाज कल्याण अधिनियम जैसे घरेलू हिंसा अधिनियम, मद्यनिषेद्य अधिनियम इत्यादि।

यह सभी कानून संविधान द्वारा स्थापित उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए बनाए गए हैं। आमुख (Preamble) में जिन लक्ष्यों और उद्देश्यों की विस्तार से विवेचना की गई है वे पूर्ण रूप से संविधान के भाग–3 जो कि मूल अधिकार और भाग–4 जो कि नीति निर्देशक सिद्धान्त (डायरेक्टिव प्रिन्सिपल्स ऑफ स्टेट पॉलिसी) में है, पूरी तरह से व्याख्यायित की गयी है। आमुख, मूल अधिकार एवं नीति निर्देशक तत्व यह तीनों मिलाकर समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए न्याय सुनिश्चित करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामाजिक न्याय के जिस आदर्श रूप की अवधारणा संविधान में की गई थी उसको तमाम कानूनों के बावजूद, यहां तक कि न्यायालयों के निर्णयों में बार–बार दोहराये जाने के बावजूद अपेक्षित परिणाम नहीं मिल रहे हैं। समाज के सामान्य आदमी की भलाई के लिए जो नियम बनाये गये हैं वे ज्यादातर किताबों की शोभा बढ़ा रहे हैं, ऐसा इसलिए हो रहा है क्योंकि सामान्य आदमी में सामाजिक जागृति का अभाव है और दूसरा, समाज के उन लोगों में जिनका स्तर बहुत ऊपर है और जिन्हें समाज के अन्य वर्गों को आगे बढ़ाने में मदद करनी चाहिए, उनमें नैतिक शिक्षा का अभाव है।

सामान्य रूप से कार्यपालिका का समाज के सामान्य लोगों को न्याय दिलाने में बहुत ही प्रमुख भूमिका एवं उत्तरदायित्व है तथा वे तभी सफल हो सकती हैं जबः

1. उनका सामाजिक न्याय की अवधारणा में विश्वास हो जो संविधान का प्राण है।

2. इन सिद्धान्तों को लागू करने में उनके अन्दर धर्म प्रचारक भाव हो, जो लोगों में विश्वास पैदा कर सके।

3. जो लोग इन सामाजिक मूल्यों को लागू कर रहे हैं उनका अपना चरित्र हो क्योंकि भले ही वे संविधान के प्रति निष्ठावान हों और उच्च शिक्षित हों परन्तु यदि वे भ्रष्ट हैं तो वे अन्य लोगों से ज्यादा खतरनाक साबित हो सकते हैं।

4. उनमें एक स्तर की योग्यता एवं उत्तरदायित्व की भावना हो।

5. समाज के पिछड़े वर्गों के प्रति सहानुभूति और संवेदना हो तथा साथ ही साथ ऐसे लोग जो भ्रष्ट हैं उनके प्रति उनको कठोर होना आवश्यक है।

हम सभी जानते हैं कि संवेदना के बिना ज्ञान उसी तरह से है जैसे कि अमार्गदर्शित मिसाइल एवं कुपथगामी मन। जब तक यह पंचशील समाज के जिम्मेदार लोगों में नहीं आएगा तब तक समस्त कानून कागजी शेर रहेंगे।

समाज के सभी वर्गों विशेष रूप से महिलाएं, बच्चे, वृद्ध, अल्पसंख्यक, पिछड़े वर्ग व निःशक्त जनों के साथ आचरण करते समय हमें सिर्फ इन कानूनों और संविधान को अपने दिमाग में नहीं रखना है वरन् उन्हें प्राप्त मानव अधिकारों को भी अच्छी तरह से संरक्षित करना होगा क्योंकि ये सभी अधिकार एक सामान्य जीवन बिताने के लिए मूलभूत तत्व है। यह कार्य इतना आसान नहीं है, अत्यंत दुष्कर है। इसके लिए अत्यंत उच्चस्तरीय अनुशासन, धैर्य, राष्ट्रीयता की भावना एवं जनसेवा की भावना आवश्यक है। सार्वजनिक सेवाओं को गरीब के दृष्टिकोण से व्याख्यायित करना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि वस्तुतः गरीब एवं कमजोर लोगों की सत्ता में कोई भागीदारी नहीं होती। प्रशासनिक न्याय यदि देर से दिया गया तो यह सामाजिक न्याय की समस्त अवधारणा को ही खत्म कर देता है। सामाजिक न्याय प्रशासनिक प्रक्रिया से तभी संभव है जबकि इसे लागू करने वाले सभी लोग अंत्योदय की भावना से अपने कार्य को पूरा करें। इस समाज के विभिन्न वर्गों से आचरण करते समय सिर्फ हम विधिक एवं नैतिक अधिकारों के बारे में ही नहीं सोचें परन्तु उनकी जो सामाजिक गरिमा है उसका भी ध्यान रखें। सही कार्य सिर्फ कानून के मापदण्ड पर ही खरा नहीं होना चाहिए वरन् इन्हें जनता के न्यायोचित निर्णय की अपेक्षा पर ही खरा उतरना चाहिए।

सामाजिक न्याय एवं मानवाधिकार एक दूसरे के पूरक हैं और इन्हें समाज में सही ढंग से लागू करने की जिम्मेदारी एक प्रजातंत्रात्मक राज्य में शासन की होती है चाहे वह विधायिका हो या कार्यपालिका। जब तक दोनों एक समन्वयात्मक रूप से कार्य नहीं करेंगे तब तक सामाजिक विकास होना असम्भव है। यदि कार्यपालिका संविधान के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए अपने कर्तव्यों को पूरा करे तभी हम अपने पूर्वजों की इस अवधारणा को पूरा करने में समर्थ होंगे जिसमें उन्होंने कहा है कि

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया,
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद दुःख भाग भवेत ।

* * * *

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, सूचना का अधिकार और मानवाधिकार के अंतरसंबंध*

बैजनाथ मिश्र

बात 2008 की है। जर्मनी में दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधियों के साथ संवाद के दौरान एक पत्रकार ने दिलचस्प टिप्पणी की थी। आप भारत से हैं। सौभाग्यशाली हैं। आप इतनी बात कह पाते हैं। सरकार के गलत कार्यों का सीधे विरोध कर सकते हैं। उसकी नीतियों की आलोचना करते हैं और संसद की अक्षमता पर गंभीर टिप्पणियां कर देते हैं। इतनी आजादी हमें नहीं मिली है। अभिव्यक्ति की बंदिशें हम जानते हैं, इसके खतरे महसूस करते हैं और जानने के हक से महरूम होने की पीड़ा झेलते हुए जीते हैं। हम भारतीय वाकई खुशनसीब हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हमारा मौलिक अधिकार है। सूचना का अधिकार अधिनियम हमें जानने का अधिकार प्रदान कर चुका है और मानव अधिकार घोषणा पत्र के जरिये भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को एक अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। हमारा संविधान सभी नागरिकों को गरिमापूर्ण जीवन जीने का अधिकार देता है। भारतीय संविधान जहां विधि के समक्ष समता का अधिकार प्रदान करता है, वहीं भेदभाव पर रोक भी लगाता है। हमारा संविधान लोकसेवा में अवसर की समानता का अधिकार भी देता है। 1993 में भारत सरकार ने इन्हीं सब अधिकारों की रक्षा के लिए मानवाधिकार आयोग गठन किया।

संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार और मानवाधिकार घोषणापत्र में स्वीकार किए गए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार में परिलक्षित एकरूपता है। मानवाधिकार घोषणापत्र प्रत्येक व्यक्ति को बिना हस्तक्षेप के विचार रखने का अधिकार देता है। इसमें लिखित, प्रकाशित या अन्य किसी रूचिकर माध्यम के द्वारा सभी प्रकार की सूचनाएं जानने एवं उनके आदान–प्रदान की स्वतंत्रता का अधिकार सम्मिलित है। लेकिन इन अधिकारों का उपयोग विशेष कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की अपेक्षा करता है। अतः बंदिशें लगाई गईं, किन्तु ये बंदिशें कानूनों की सीमा में हैं। यानी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग करते समय दूसरे के अधिकारों तथा सम्मान की रक्षा के

---

*कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में आयोजित राष्ट्रीय मानव संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

साथ–साथ राष्ट्रीय सुरक्षा, सार्वजनिक व्यवस्था, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं नैतिकता की रक्षा का दायित्वबोध भी होना चाहिए। हमारा संविधान भी सभी नागरिकों को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करता है। नागरिक का अभिप्रेत अर्थ मानव ही है। अभिव्यक्ति एक व्यापक शब्द है। इसमें न केवल बोला हुआ या लिखा हुआ शब्द ही है। अभिव्यक्ति एक व्यापक शब्द है। इसमें न केवल बोला हुआ या लिखा हुआ शब्द ही सम्मिलित है, बल्कि सभी प्रकार के विचारों या भावनाओं का संचार भी शामिल है। जैसे चित्राकंन, नाट्य प्रदर्शन, चलचित्र और छपी हुई सामग्री। सर्वोच्च न्यायालय कई मामलों की सुनवाई करते हुए यह फैसला दे चुका है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में मुद्रण या प्रेस की स्वतंत्रता निहित है और इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की तरह हमने भी प्रेस का उल्लेख अभिव्यक्ति के रूप में नहीं किया है।

संविधान के मूल स्वरूप में हमारी इस स्वतंत्रता को प्रतिबंधित करने वाली कुछ धाराएं अवमान लेख, अपवचन, मानहानि, न्यायालय की अवमानना, सदाचार तथा नैतिकता का उल्लंघन एवं राज्य की सुरक्षा तथा विद्रोह से संबंधित थीं। लेकिन 1951 में किये गए प्रथम संविधान संशोधन तथा 1963 में हुए 16वें संविधान संशोधन के जरिये बंदिशों का दायरा बढ़ा दिया गया। अब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग करते समय भारत की सार्वभौमिकता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों, सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार तथा नैतिकता, न्यायालय का अपमान तथा किसी की मानहानि के प्रति सचेत रहना होगा। इतना ही नहीं, हमें यह ध्यान भी रखना होगा कि हमारी अभिव्यक्ति हिंसा को प्रोत्साहित न करे। इस प्रकार हमारे संविधान ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर औचित्यपूर्ण प्रतिबंध लगाया है। ये प्रतिबंध किसी मामले में औचित्यपूर्ण हैं या नहीं, इसका निर्धारण भी न्यायालय द्वारा ही किया जायेगा।

सर्वोच्च न्यायालय ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार को नैसर्गिक अधिकार माना है। यह एक ऐसा बुनियादी मानवाधिकार है जो अन्य सभी अधिकारों से महत्वपूर्ण है। न्यायालय की यह स्पष्ट घोषणा है कि संविधान प्रदत्त यह स्वतंत्रता किसी भी लोकतांत्रिक संस्था या देश की जीवन रेखा है। इस अधिकार को दबाने, कुचलने या इसका गला घोंटने का कोई भी प्रयास लोकतंत्र के लिए मौत की घंटी और निरंकुशता या तानाशाही लाने में सहायोगी होगा। मीडिया को जनता का सबसे प्रभावशाली चिंतक मानते हुए न्यायालय ने कहा है कि जानकार नागरिक जनतंत्र का

सार हैं। सामाजिक कार्यकर्त्ता डॉ0 विनायक सेन के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य को हमारी व्यवस्था का आधारभूत हिस्सा स्वीकार किया है। सर्वोच्च न्यायालय की टिप्पणी है कि गांधी की किताब रखने या पढ़ने से कोई गांधी नहीं बन जाता और ना ही नक्सली साहित्य रखने मात्र से नक्सली मान लिया जायेगा। संविधान ने देश के नागरिकों को किसी भी विचार, विचारधारा को जानने या जानकारी प्राप्त करने तथा उसकी अभिव्यक्ति का हक दिया है। इस स्वतंत्रता का प्रयोजन यह है कि सरकारी और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों के अधिकारी जानता के मस्तिष्क का अभिभावक नहीं बन सकते। इस अधिकार का मूल अर्थ यह है कि प्रत्येक नागरिक को जानकारी लेने–देने और अपना दृष्टिकोण प्रसारित–प्रचारित करने का अधिकार है। इस संबंध में सबसे पहला मामला आया रोमेश थापर बनाम स्टेट ऑफ मद्रास का।

इस मामले में सार्वजनिक सुरक्षा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए मद्रास मेंटेनेंस ऑफ पब्लिक आर्डर एक्ट 1949 का उपयोग करते हुए बम्बई से प्रकाशित अंग्रेजी साप्ताहिक 'क्रास रोड्स' पत्रिका के मद्रास राज्य में प्रवेश, प्रसार, बिक्री तथा वितरण पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। मामला जब सर्वोच्च न्यायालय में पहुँचा, तब इस प्रति बंध को असंवैधानिक करार दिया गया। न्यायमूर्ति पतंजलि शास्त्री ने वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को समस्त लोकतांत्रिक संगठनों की नींव बताते हुये कहा कि स्वतंत्र राजनीतिक चर्चा के बिना जनता की राजनीतिक विषयों की शिक्षा, जो किसी जनप्रिय सरकार के उपयुक्त संचालन के लिए आवश्यक है, सम्पन्न नहीं हो सकती। उन्होंने कहा – इस बात में कोई संदेह नहीं कि वाक् एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में विचारों को फैलाना/प्रचारित करना सम्मिलित है तथा स्वतंत्रता, वितरण की स्वतंत्रता द्वारा निरापद रहती है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार एक बुनियादी मानवाधिकार होने के बावजूद सरकारी अधिकारियों – कर्मचारियों को नागरिकों जैसी स्वतंत्रता हासिल नहीं है। हालांकि सूचना अधिकार अधिनियम के प्रभाव में आने के साथ ही पूरा परिवेश बदल गया है। आदर्श लोकतंत्र की स्थापना के लिए आवश्यक इस हथियार ने शासकीय गोपनीयता अधिनियम का लौह कपाट विदीर्ण कर दिया है। यह अधिनियम शासन–प्रशासन में पारदर्शिता तथा दायित्वबोध के उद्देश्य से लागू किया गया है। इससे सरकारी दफ्तरों के दरवाजे आम नागरिकों के लिए खोल दिये गये हैं। चूंकि शासनतंत्र मूल रूप से जनता के लिए है, अतः उसके कार्यों को जनता से छिपाकर रखना मौलिक रूप से त्रुटिपूर्ण है। अब माना जाने लगा है कि प्रत्येक शासकीय कर्मी

को सामूहिक के साथ–साथ व्यक्तिगत रूप से भी उत्तरदायी माना जाए। अंदरखाने हो रही गड़बड़ियों की पक्की जानकारी विभागीय कर्मियों को ही होती है, क्योंकि हमारी प्रशासनिक व्यवस्था में असली उत्तरदायित्व इन सरकारी सेवकों पर ही है। लेकिन विभिन्न सेवा नियमावलियां इन्हें पूरी शिद्दत से अपनी बात कहने से रोकती हैं। सूचना अधिकार अधिनियम लागू होने के शुरूआती दिनों में सरकारी कर्मचारियों–अधिकारियों को सूचनाएं प्राप्त करने में सेवा नियमावलियों के कारण कठिनाई हुई। कुछ सूचना आयोगों ने भी सरकारी कर्मचारियों को सूचनाएं दिलाने में कोताही बरती। लेकिन कुछ न्यायिक फैसलों ने यह स्थिति बदल दी। बावजूद इसके सरकारी कर्मचारी मुँह खोलने से कतराते हैं। सरकार भी यह तथ्य समझती है और वह इसीलिए ह्विसिलब्लोअर प्रोटेक्शन कानून बनाना चाहती है। दरअसल परिवर्तित परिवेश में सेवा आचरण संबंधी नियमावलियों पर पुनर्विचार आवश्यक है। यह समय की मांग भी है और जरूरत भी और एक पारदर्शी उत्तरदायी प्रशासन का बुनियादी उसूल भी।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर संविधान सम्मत प्रतिबंधों को सम्मान देते हुए कभी–कभार बोलने–लिखने में इन प्रतिबंधों का उल्लंघन या मानवाधिकारों का उल्लंघन हो जाता है। जो आदतन उद्दंड का उच्छृंखल हैं और किसी की नाक की परवाह किए बगैर हाथ–जुबान चलाते रहते हैं, उन्हें कसने में कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए। लेकिन जो लोग न्याय में आस्था रखते हैं और मानवाधिकारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बंदिशों में बंध कर लिखना–बोलना चाहते हैं, वे भी फंस जाते हैं और इसका कारण है शब्द। प्रत्येक शब्द का अपने शब्दार्थ के साथ–साथ भावार्थ का लंबा इतिहास और विशेष संदर्भ होता है। कई शब्द समय के साथ अपना अर्थ बदल देते है। कभी उनका अर्थ संकुचित हो जाता है तो कभी अर्थ विस्तार। स्थान परिवर्तन के कारण भी शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। कभी अर्थ विपर्यय के कारण बवाल भी मच जाता है। पता नहीं कब किस शब्द से नस्लवाद की बू आने लगे, किस धर्म की भावना आहत हो जाय और किस जाति विशेष को ठेस पहुँच जाय। पटना में अन्ना हजारे के खिलाफ इस आधार पर मुकदमा कर दिया गया है कि उन्होंने संसद को बनिये की दुकान कह दिया था। कौन सा शब्द किसे अशोभनीय, अमानवीय तथा लिंग भेदी लग जाय, कहना मुश्किल है। शब्दों की यह दशा है तो कथनों का क्या कहना? समाज के तथाकथित आदर्शों, संवैधानिक संस्थाओं, उच्चपदस्थ महानुभावों, ताकतवर, धनवान तथा चर्चित लोगों के बारे में सच बोलना भी आमतौर पर खतरे से खाली नहीं होता है। स्वतंत्रता प्रायः सामर्थ्यवान, शक्तिशाली और समृद्ध के साथ रही है। कमजोर के साथ न थी, न है। भारतीय मनीषा का एक ध्येय वाक्य है 'सत्यम ब्रूयात् प्रियम् ब्रूयात्,

न ब्रूयात् सत्यमप्रियम।' यानी कड़वा सच मत बोलो। यह किसी को अच्छा नहीं लगेगा। यहां तक कि मानवाधिकारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के पैरोकारों को भी। ऐसे में क्या बोलने की आजादी का भरपूर उपयोग किया जा सकता है?

चूंकि मानवाधिकार का अर्थ होता है किसी भी इंसान को जिंदगी, आजादी, बराबरी और सम्मान का अधिकार प्रदान करना, इसलिए सूचना अधिकार अधिनियम में जिंदगी और आजादी से संबंधित सूचनाएं 48 घंटे में देने का प्रावधान है। लेकिन जिंदगी और आजादी शब्दों के परिभाषित नहीं होने के कारण सूचना आयोगों को आदेश देने और निर्णय लेने में परेशानी हो रही है। सूचना आयुक्त केवल न्यायिक सेवा के सेवानिवृत्त अधिकारी, न्यायमूर्ति या विधिवेत्ता ही नहीं होते हैं। वे सामाजिक, शैक्षणिक, प्रबंधन और मीडिया के क्षेत्र से भी होते हैं और उन्हें बाकायदा प्रशिक्षण भी नहीं मिलता है। इसलिए जिंदगी और आजादी से संबंधित सूचनाओं के कानून निर्धारित समय सीमा में नहीं मिलने के कारण दायर अपील आवेदनों पर आमतौर पर निर्णय मुश्किल हो जाता है। सूचना आयुक्त इन दोनों शब्दों की व्याख्या अपने–अपने विवेक तथा अनुभव के आधार पर करते हैं। इस क्रम में बहुधा पीड़ित पक्ष या सूचना मांगने वाले को सूचनाएं नहीं मिल पाती हैं और जन सूचना पदाधिकारी दंडित नहीं हो पाते है। कभी–कभी तो मानव के इस अधिकार पर ही कुठाराघात हो जाता है और सूचना अधिकार अधिनियम अपने उद्देश्य की पूर्ति में विफल नजर आने लगता है। इसलिए सूचना आयोगों को जिंदगी और आजादी के बारे में स्पष्ट सुझाव परिभाषा के साथ दिये जाने चाहिए। भारत सरकार का कार्मिक एवं प्रशिक्षण विभाग सूचना अधिकार अधिनियम की विभिन्न धाराओं को स्पष्ट करते हुये अपना मंतव्य सूचना आयोगों को भेजता रहता है। लेकिन उसने जिंदगी और आजादी के बारे में कोई परिपत्र सूचना आयोगों को नहीं भेजा है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को इस दिशा में अविलंब पहल करनी चाहिए।

सूचना का अधिकार वस्तुतः अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार का ही एक विस्तार है और मानवाधिकार का पूरक या एक नया संस्करण है। इसलिए सूचना अधिकार अधिनियम में भी कुछ सूचनाएं नहीं देने का प्रावधान है। ये प्रावधान अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाई गई बंदिशों के ही समान हैं। कोई भी नागरिक किसी के बारे में नितांत निजी और व्यक्तिगत सूचनाएं नहीं मांग सकता है। उसे वैसी सूचनाएं भी नहीं दी जा सकती जिनके प्रकटन से किसी के जान–माल पर खतरे की आशंका हो। ये प्रावधान मानवाधिकार की एक बुनियादी शर्त निजता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के मामले में विधायकों व सांसदों के समान अधिकार प्रदान करता

है। यानी जो सूचनाएं संसद तथा विधान मंडलों को दी जा सकती है, वे सभी सूचनाएं इस देश के नागरिक प्राप्त कर सकते हैं। दरअसल एक सफल तथा आदर्श लोकतंत्र के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिक पूर्णतः संसूचित हों ताकि शासन–प्रशासन में पारदर्शिता सुनिश्चित की जा सके और उसे उत्तरदायी बनाया जा सके। अगर नागरिकों के पास शासन–प्रशासन के बारे में सही और तथ्यात्मक सूचनाएं नहीं होगी तो वे अभिव्यक्त क्या करेंगे? तब अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की सार्थकता ही प्राश्नेय बन जाएगी। इसलिए मानव के जानने के बुनियादी हक को सूचना अधिकार अधिनियम के रूप में लागू किया गया है।

सूचना अधिकार अधिनियम में मानवाधिकार को विशेष महत्व भी दिया गया है। आम धारणा यह है कि यह अधिनियम भ्रष्टाचार रोकने या कम करने के लिए लागू किया गया है। लेकिन यह अधिनियम मानवाधिकारों की रक्षा के प्रति सचेष्ट है। इसका प्रमाण है अधिनियम की धारा 24 का परंतुक। इस धारा में कहा गया है कि खुफिया तथा सुरक्षा संगठनों से सूचनाएं नहीं मांगी जा सकती हैं। परंतु यदि मामला मानवाधिकारों के उल्लंघन या भ्रष्टाचार का हो तो उन संगठनों से भी सूचनाएं मांगी जा सकती हैं जो सूचना अधिकार अधिनियम की परिधि से बाहर हैं। अधिनियम में जिन संगठनों या संस्थाओं को बाहर रखा गया है उनमें इंटेलिजेंस ब्यूरो से लेकर बी एस एफ एवं स्पेशल ब्रांच तक शामिल हैं। लेकिन इनकी किसी भी इकाई या शाखा या उसके किसी अधिकारी–कर्मचारी पर मानवाधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगता है तो उनसे सूचनाएं मांगी जा सकती हैं। शर्त सिर्फ यह है कि ये सूचनाएं केंद्रीय सूचना आयोग या राज्य सूचना आयोगों की स्वीकृति के बाद ही दी जाएंगी। इस उपबंध का कारण शायद यह है कि नागरिक संवेदनशील एजेंसियों, संगठनों और संस्थाओं पर मानवाधिकर उल्लंघन का आरोप लगा कर सूचना आवेदनों का अंबार न लगा दें। लेकिन इससे सूचना अधिकार अधिनियम में मानवाधिकारों की रक्षा का उद्देश्य विफल नहीं हो जाता, क्योंकि आयोगों की स्वीकृति के बाद आवेदन मिलने के 45 दिनों के अंदर ही सूचनाएं देनी होगी।

इस प्रकार हम पाते हैं कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जहां मानवाधिकारों को जानने–समझने तथा उनकी रक्षा के लिए बोलने–लिखने का अधिकार प्रदान करती है, वहीं सूचना का अधिकार अधिनियम अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक सामग्री, सूचनाएं या आधार प्रदान करता है। वस्तुतः ये तीनों एक–दूसरे के पूरक हैं। तथ्य यह भी है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सरकारी विभागों में सेवा नियमावलियों के कारण बाधित है,

मीडिया और सोशल नेटवर्किंग पर नई बंदिशें लगाने की कोशिश जारी है; मानवाधिकार उल्लंघन की घटनाएं बदस्तूर जारी हैं और सूचना अधिकार अधिनियम सरकारों तथा सरकारी अधिकारियों के कारण अपनी उद्देश्य प्राप्ति की दिशा में अभी मंथर गति से ही चल रहा है।

* * * *

सूचना का अधिकार और सामाजिक संदर्भ*

प्रो0 योगेश अटल

भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति के 55 वर्ष होने के पश्चात, और 21वीं शताब्दी में प्रवेश के तुरंत उपरांत, भारतीय नागरिक को सूचना का अधिकार मिला है। वैसे तो हमारे संविधान की धारा 19(1) के तहत हमें बोलने और अभिव्यक्त करने का मूलभूत अधिकार प्राप्त था। किन्तु उस अधिकार के दायरे में सूचना के अधिकार का स्पष्ट उल्लेख नहीं था। समाजवादी नेता राजनारायण ने इसी कारण सर्वोच्य न्यायालय में याचिका देकर 1976 में यह प्रश्न उठाया था। उनका यह तर्क था कि यदि व्यक्ति को किसी चीज का पता ही नहीं है तो वह किस प्रकार अपनी बात व्यक्त कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस पर अपनी सहमति व्यक्त की और कहा कि सूचना का अधिकार संविधान की धारा 19 में सन्निहित है। सर्वोच्च न्यायालय का यह भी कहना था कि एक प्रजातंत्र में जनता ही सर्वेसर्वा होती है और इसलिए उसे यह जानने का अधिकार है कि सरकार किस प्रकार काम कर रही है। सरकार का सारा काम काज जनता द्वारा करों के रूप में दिये गए धन से संपादित होता है इसलिये करदाता का यह अधिकार बनता है कि वह यह जाने कि उसके द्वारा दिये गये धन का किस प्रकार उपयोग किया जा रहा है। संविधान की इस धारा विशेष की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा व्याख्या किये जाने पर भी जन साधारण राजकीय विभागों में उपलब्ध सूचनाओं तक नहीं पहुंच पाता था।

सर्वोच्च न्यायालय के महत्त्वपूर्ण निर्णय के बाद भी 25 वर्षों तक स्थिति यथावत् बनी रही। कुछ जनप्रतिनिधियों के अथक प्रयास से देश के नौ राज्यों ने सूचना के अधिकार के अधिनियम बनाये। बाद में अक्तूबर 2005 में जाकर केन्द्र सरकार ने भी सूचना के अधिकार का अधिनियम पारित किया और शीघ्र ही वह क्रियान्वित हुआ। भारत आज विश्व के उन 65 देशों में से एक है जहां सूचना का अधिकार प्रचलन में

---

*दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

है। भारत में इस दिशा में एक जनमत तैयार करने में स्वर्गीय श्री एच.डी.शोरी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही हैं। जनहित में न्यायालयों में याचिकाएं प्रेषित करने की दिशा में भी उनके प्रयास सराहनीय रहे हैं। अपने अधिकारों के प्रति सजगता जागृत कर सूचना क्रान्ति के इस युग में भारतीय प्रजातंत्र को मजबूती देना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया था। इस अवसर पर उन्हें स्मरण करना और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना आवश्यक है।

सन् 1976 में राजनारायण जी ने जो प्रश्न उठाया था वह बड़ा समीचीन था। ज्ञान का समाजशास्त्र मानता है कि ज्ञान में शक्ति होती है। ज्ञान का कलेवर सूचानाओं से बनता है। जिनके पास सूचनाएं होती हैं वे शक्ति संपन्न होते हैं। अंग्रेजों की परतंत्रता में भारतीयों की शक्तिहीनता का कारण सूचना का अभाव था। सूचना संपन्न अंग्रेजी शासन और उनके अधीनस्थ अफसर और बाबू आम आदमी का शोषण और दमन कर सकते थे। यातायात और संचार के माध्यमों का हमारी दासता के युग में विस्तार करने का कारण भी यही था। शासक की आवश्यकता थी कि अपने शासित प्रदेशों के बारे में खुफ़िया जानकारी जल्दी से जल्दी उनके पास पहुंच सके और उसके आधार पर उनके आदेश और फरमान त्वरित गति से भेजे जा सके। उस समय उनके लिये 'गोपनीयता' बनाये रखना आवश्यक था। इसीलिये Official Secrets Act 1889 में बनाया गया जिसका 1923 में संशोधन किया गया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी सरकारी विभाग इसी अधिनियम का सहारा लेकर सूचना को गुप्त रखते हैं। फाइलों में बंद और मशीनों के अभाव में मानवीय श्रम द्वारा उन्हें जमा करना और ढूँढ निकालना बड़ा कठिन कार्य है : समय और श्रम दोनों ही दृष्टियों से। फोटो कॉपी की सुविधा के अभाव में रजिस्ट्रार के दफ्तर में रजिस्टर किये जाने वाले दस्तावेजों को अहलकार लोग हाथों से अपनी पंजी में लिखते थे। सब कुछ बड़ा श्रमसाध्य था। आज भी कई कार्यालयों में यही प्रथा प्रचलित है।

स्पष्ट है कि ऐसी व्यवस्था से लालफीताशाही बढ़ती गई। जो सूचनाओं को सहेज कर रखते थे उनकी महत्ता बढ़ जाती थी। सूचना देने से मना करने में परपीड़न का सुख तो मिलता ही था, पर एक छोटे कर्मचारी को रिश्वत लेकर सूचना बेचने का मौका भी मिल जाता था। 'गोपनीयता' के बहाने अधिकारी अपने कार्यकलाप में बेईमानी, धोखाधड़ी और जालजासी भी कर सकता था। यही कारण है कि ब्यूरोक्रेसी का अर्थ आम लोगों के संज्ञान में देरी, कानूनी दावपेच, परपीड़न और अकुशलता का पर्याय बन चुका है। नियमों की आड़ में सूचना को पहुँच से परे रख कर नौकरशाह

बाधा के बंधुर खड़े कर देते हैं। ऐसा नहीं है कि सभी नौकरशाह अकुशल या बेईमान हेाते हैं। किन्तु उनकी यही आम छवि बन गई है। यदि कोई अफसर इस परंपरा का उल्लंघन करता है तो उसे अपने सहयोगियों की आलोचना का आखेट बनना पड़ता है। इतना होते हुए भी कुछ नये विचारों के अधिकारियों ने इस तंत्र को बदलने की चेष्टाएँ की और उसका ही परिणाम है कि आज सूचना का अधिकार एक यथार्थ बन पाया है। ऐसे कई उदाहरण खोजे जा सकते हैं जहाँ अधिकारियों ने ही तंत्र बदलने के लिये कदम उठाए और उसके लिए कष्ट भी सहे। ऐसे अफ़सरों को, जिन्होंने रिकार्डों को ठीक से पंजीकृत करने की दिशा में कदम उठाये, बार बार तबादलों का सामना करना पड़ा और सजा स्वरूप उन्हें महत्वहीन पदों या स्थानों पर भेज दिया गया ताकि उन्हें शक्तिहीन होने का आभास हो। और उनके स्थानांतरित होने के बाद तुरंत ही पुराना ढर्रा फिर से स्थापित कर दिया गया।

कुछ दम खम वाले अधिकारियों ने फिर भी इस प्रक्रिया में सेंध लगाने में सफलता पाई। 1985 में कर्नाटक राज्य के करवार जिले के कलेक्टर ने साहस कर वाहन खरीदने के लिये आवंटित धन की कुछ राशि लेकर अपने कार्यालय में कम्प्यूटर खरीदे और उनका उपयोग उसने अपने निरीक्षण कार्य से जुड़ी रिपोर्टों को रिकार्ड करने के लिये किया। इससे जिले के विकास कार्यो को 'मॉनीटर' करने में बड़ी सहायता मिली और कार्यकुशलता में वृद्धि हुई। उनके प्रयोग के अनुभव के आधार पर CRISP नाम का प्रोजेक्ट तैयार हुआ। यह Computerized Rurel Information System Project अन्य क्षेत्रों में भी दुहराया गया।

महाराष्ट्र के एक जिले में, और मध्य प्रदेश में कुछ सरकारी विभागों ने, Photocopy की सुविधा का प्रयोग आरंभ किया जिसके माध्यम से जनता अपने उपयोग के लिये दस्तावेजों की फोटो कॉपी करवाने लगी। राजस्थान में एक आई.ए. एस. अधिकारी ने अपने पद से त्यागपत्र देकर एक NGO खड़ा किया और उसके माध्यम से पंचायतों के कामकाज पर निगरानी रखने के लिये सूचना के अधिकार की मांग रखी। पंचायत स्तर पर विकास कार्यों के लिये आवंटित धन के गड़बड़ घोटालों को रोकने के लिये सूचना का अधिकार एक महत्वपूर्ण अधिकार था। इस मांग का विरोध न केवल विभागीय अधिकारियों ने किया वरन् जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने भी किया क्योंकि वे स्वयं भी भ्रष्टाचार के प्रमुख हिस्सेदार थे।

सूचना के अधिकार का मुख्य ध्येय सरकार के कामकाज को पारदर्शी बनाना है। 'गोपनीयता' की आड़ में सरकारी कर्मचारी आम आदमी को अपने कार्य में हस्तक्षेप

करने से रोकते हैं और उसे कई प्रकार से प्रताड़ित करते हैं। इस चलन को विराम सूचना के अधिकार के माध्यम से ही दिया जा सकता है।

सरकार के पास जो सूचनाएं रहती हैं, या सरकार जो सूचनाएं एकत्र करती है, वे सरकार की कार्यकुशलता और क्षमता बढ़ाने में सहायक होती है। सूचनाओं के माध्यम से ही सरकारें शासन–भार संभालती हैं। किन्तु सूचनाओं का सहारा लेकर सरकारें सुशासन भी कर सकती हैं और कुशासन भी। यदि सरकार के पास ही सूचना का एकछत्र अधिकार हो तो फिर उसका उपयोग जन–साधारण को शोषित और पीड़ित करने के लिये किया जा सकता है। ऐसी सरकारें अप्रजातांत्रिक होती हैं। प्रजातंत्र में, इसके विपरीत जनता सर्वोपरि होती है। राज्य कर्म में रत लोग जनता के सेवक होते हैं, और इस कारण सरकार के काम काज पर नजर रखना जनता का अधिकार होता है। यह भूमिका सूचना के अभाव में संपादित नहीं की जा सकती।

सरकार के पास जो सूचनाएँ रहती हैं वे मोटे रूप में निम्न वर्गों में बांटी जा सकती हैं :

1. राज्य स्तरीय सूचनाएँ
   - ० जो सुरक्षा से संबंधित हैं।
   - ० जो सामाजिक–आर्थिक सांख्यकी के रूप में हैं।
   - ० जो राजकीय विधि–विधान के निर्माण और अनुपालन से संबंधित हैं।
2. व्यक्ति विशेष से संबंधित विशिष्ट सूचनाएँ
   - ० जो सुरक्षा हित में गोपनीय है।
   - ० जो निर्णय लेने के लिये आधारभूत है।
   - ० जो किसी प्रक्रिया का इतिहास–स्वरूप है।

समय समय पर सरकार उन सूचनाओं को, जो प्रसारित होने योग्य होती है, प्रकाशित करती रहती है। क्या प्रकाश्य है और क्या नहीं, यह सरकार स्वयं तय करती है। वार्षिक प्रतिवेदनों, सर्वेक्षणों, अभिलेखों द्वारा ये सूचनाएँ नियमित रूप से प्रकाशित–प्रसारित होती है। देश की संसद राष्ट्र हित से जुड़ी समस्त सूचनाओं की मांग कर सकती है। इनमें क्या जोड़ा जाय इसका निर्णय चुने हुए प्रतिनिधि करते हैं। सूचना का अधिकार इसी दिशा में एक नया चरण है जो आम नागरिक को सशक्त बनाने के उद्देश्य से पारित किया गया है। मीडिया के माध्यम से भी जन–समाज देश

में होने वाली प्रतिनिधियों से अपने को अवगत कराता रहता है। मीडिया के इस अधिकार पर जब कोई सरकार अंकुश लगाती है तो उसके विरूद्ध भी आंदोलन होता है, क्योंकि यह सूचना के अधिकार का हनन माना जाता है।

सूचना के अधिकार के लिये जो आंदोलन था वह उन सूचनाओं के लिये था जो जनहित में होते हुए भी उपलब्ध नहीं कराई जाती थी। इनमें एक तो ऐसी थी जो नीचे स्तरों पर राजकीय कार्यों की समीक्षा करने के लिये आवश्यक थी। दूसरी वे जो आम आदमी की निजी समस्याओं से जुड़ी है। अपने किसी कार्य के लिये एक व्यक्ति द्वारा दी गई अर्जी पर क्या कार्यवाही हो रही है, कहां विलंब हो रहा है और क्यों हो रहा है इसे जानने का आम नागरिक के पास अधिकार नहीं था। और गोपनीयता की आड़ में भ्रष्ट कर्मचारी रिश्वत लेकर सामान्य नागरिक को तंग करते थे, और अब भी करते है। इस अधिकार से यह संभावना बढ़ी है कि नागरिक को व्यर्थ पीड़ित नहीं किया जायेगा।

इस अधिकार के उपयोग के कई उदाहरण समाचार पत्रों में यदा कदा प्रकाशित होते रहते हैं, किन्तु इसका उपयोग अभी भी सीमित मात्रा में ही है। इसका भी आकलन करना पड़ेगा कि इस अधिकार का प्रयोग कौन लोग करते हैं और किन संदर्भों में करते हैं।

सरकारी कर्मचारियों की प्रतिक्रिया को भी समझना आवश्यक है। चूंकि इस अधिकार से उनकी प्रभुसत्ता को चोट पहुँची है, यह स्वाभाविक है कि वे इसका स्वागत नहीं करते और सूचना के अधिकार का उपयोग करने वाले को रूष्ट दृष्टि से देखते हैं। वे यह भी शिकायत करते हैं कि इससे उनके काम में रूकावट पड़ती है। यह भी शिकायत है कि लोग बिना सोचे समझे इस प्रकार की सूचना मांगने लगे हैं।

अभी पिछले माह ही किसी ने भारतीय लोकसभा में 1951 से लेकर अब तक हुई सारी डिबेटों की कॉपी मांगी है। यह सही है कि आवेदक कॉपी करने के पूरे खर्च को वहन करने के लिये तैयार है पर इतनी भारी मात्रा में दस्तावेजों की कॉपी करना भी आसान नहीं है।

सूचना के अधिकार का उपयोग करने का एक अन्य उदाहरण राजस्थान के गुर्जर आंदोलन से संबंधित है। राजस्थान सरकार द्वारा गठित जांच समिति का सदस्य होने के नाते मैं उसका प्रत्यक्षदर्शी हूँ। यहाँ सूचना के अधिकार का उपयोग सरकार की अपनी फाइलों के संबंध में नहीं किया गया। वरन् आंदोलन का विरोध करने वाले पक्षधरों की ओर से यह मांग की गई थी कि गुर्जरों द्वारा समिति को समर्पित समस्त

सामग्री का निरीक्षण करने की उन्हें अनुमति दी जाये।

समिति ने अपने गठन के तुरंत पश्चात् एक लोक सूचना ज्ञापित कर साधारण जनता को अपनी राय, अभ्यावेदन, संगत दस्तावेज आदि भेजने के लिये आमंत्रित किया। इसके प्रत्युत्तर में समिति को कुल मिला कर 14,625 अभ्यावेदन, 32,615 शपथ पत्र, 250 वीडियो सी डी व आडियो केसेट्स एवं दो फोटो एलबम प्राप्त हुए। अभ्यावेदनों में 73.32 प्रतिशत गुर्जरों की मांग के पक्ष में थे और 26.55 प्रतिशत उसके विरोध में थे।

गुर्जर मांग का विरोध करने वाले और अनुसूचित जनजाति के प्रवर्ग से संबंधित मीणा नेताओं ने समिति द्वारा गुर्जरों से प्राप्त दस्तावेजों और अन्य सामग्री का सूचना के अधिकार के अधीन निरीक्षण करने के लिये समिति से अनुज्ञा चाही। इसकी प्रतिक्रिया में गुर्जरों ने भी विरोधी पक्ष द्वारा प्रस्तुत दस्तावेजों का निरीक्षण करने की मांग रखी। समिति के विशेष सत्र में दोनों पक्षों ने सुप्रीम कोर्ट के, तथा राजस्थान हाई कोर्ट के अधिवक्ताओं के माध्यम से अपने अपने तर्क प्रस्तुत किये जिनके आधार पर समिति ने सूचना के अधिकार के अधीन दस्तावेजों के निरीक्षण की अनुज्ञा प्रदान की।

किन्तु गुर्जरों ने उनके द्वारा प्रेषित डी.वी.डी तथा सी.डी को निरीक्षण करने पर आपत्ति व्यक्त की। कानूनी जिरह और बहस के बाद उन्हें देखने की अनुमति इस आधार पर नहीं दी गई कि वे केवल परामर्श के लिये, न कि लोक प्रदर्शन के लिये समिति को उपलब्ध कराई गई है। कॉपीराईट एक्ट (प्रतिलिप्याधिकार विधि) के अंतर्गत उस श्रव्य–दृश्य सामग्री की गोपनीयता की सुरक्षा के लिये प्रेषकों ने याचना की थी।

यह दृष्टान्त सूचना के अधिकार की महत्ता को दर्शाता है। साथ ही इससे जुड़ी समस्याओं को भी अनावृत्त करता है। गुर्जरों ने यह आरोप लगाया कि इस अधिकार की आड़ में विरोधी पक्ष समिति के कार्य में विलंब डालने की चेष्टा कर रहा था। एक सीमित अवधि के कार्यकाल वाली समिति के लिये प्रत्येक दिन महत्व का था। समिति को इतनी ढेर सारी सामग्री को पंजीकृत कर वर्गीकृत करना था और साथ ही विभिन्न सत्रों में पक्षकारों के पक्ष की सुनवाई करनी थी। कुल मिलाकर 47–48 हजार दस्तावेजों का निरीक्षण – और वह भी दोनों पक्षों द्वारा – करना कोई सहज कार्य नहीं था। पर समिति को यह सब करना पड़ा। इस प्रक्रिया से यदि कार्य में बाधा और विलंब की दुविधाएँ आई तो साथ ही आंदोलनकारी समिति की निष्पक्षता के प्रति आश्वस्त भी हुए। प्रगट रूप से तो याचकों का अभिप्रेत यही था कि वे समिति को प्रस्तुत दस्तावेजों की विश्वसीनयता को जांचे, किन्तु साथ ही समिति के कार्य को लंबा खींचने की

अप्रगट योजना भी इसके पीछे रही होगी, ऐसा कई टीकाकारों का अनुमान था।

इस समिति के कार्य में एक प्रमुख बाधा थी सूचना का अभाव। समिति के गठन का उद्देश्य था कि गुर्जरों को आदिवासी वर्ग में सम्मिलित करने का औचित्य। इसमें यह भी जानना आवश्यक था कि गुर्जर लोग राजस्थान में कहाँ कहाँ है, वे क्या करते हैं, वे पिछड़े हैं या नहीं। जब समिति ने सरकारी कार्यालयों से गुर्जर संबंधी जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा की तो सभी ने इसमें अपनी असमर्थता जताई। उनका कहना था कि वे जातिगत सूचनाएँ एकत्र नहीं करते क्योंकि वह संविधान के विरूद्ध हैं। यदि ऐसा है तो फिर गुर्जरों से संबंधित सूचनाओं का आकलन सरकारी विभागों के माध्यम से किया ही नहीं जा सकता। गुर्जरों का यह आरोप था कि एक जन–जाति विशेष को आरक्षण का इतना लाभ मिला है कि उसके सदस्य राज्य और केन्द्र सरकार के ऊँचे ऊँचे पदों पर काफी संख्या में आसीन है। इसकी तुलना में गुर्जरों की स्थिति क्या है? इसके आंकड़ें कहां से जुटाए जायें? जनजातियों और अनुसूचित जातियों की गणना तो उनके नाम से होती है, और यह सूचना उपलब्ध है, पर जो जातियां अब जन जाति, पिछड़े वर्ग, या अनुसूचित जनजाति में सम्मिलित होने का दावा करती है उनके बारे में सूचनाएं कहां से संजोयी जाय? जातिगत आरक्षण और जाति के उन्मूलन के प्रयासों में यह जो द्वन्द है उस ओर संभवतः सूचना के अधिकार के कारण कुछ प्रकाश पड़ सकता है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अब जो 'क्रीमी लेयर' (मलाई की परत) को हटाने की बात की जा रही है, उससे यह आशा बढ़ती है कि 'जाति की राजनीति' को शायद विराम मिल जाय।

वैश्वीकरण के इस दौर में भारत ही नहीं सारा विश्व आज सूचना की अद्भूत क्रान्ति के कारण एक भिन्न स्थिति में पहुँच गया है। कम्प्यूटर की सहायता से सूचना का आकलन, उसका भंडारण, उसकी पुनःप्राप्ति, और उसके विभिन्न समायोजन आज संभव हो गए हैं। सूचना के स्रोतों की भी कमी नहीं है। एक तरह से सूचना का एकाधिपत्य ही समाप्त हो गया है। शिक्षा के निरंतर विकास से आज जागरूकता भी बढ़ रही है और जागरूक नागरिकों की संख्या भी बढ़ रही है। एक निरक्षर नागरिक को न तो इस बात का पता होता है कि उसके अधिकार क्या हैं, न वह यह जानता है कि कौन सी सूचना कहां से प्राप्त की जा सकती है, और न ही वह प्राप्त सूचना के उपयोग के बारे में ही आश्वस्त होता है। किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या निरंतर घट रही है, और शिक्षित वर्ग अपने अधिकारों के प्रति सजग हो रहा है। इससे यह आशा बंधती है कि आने वाले वर्षों में अधिकाधिक लोग सूचना के अधिकार का प्रयोग करेंगे। इस संभावना से शायद सरकारी कर्मचारी भी थोड़े सचेत हो जाएं और लालफीताशाही

के कुतंत्र से बाहर आए, विलंब की नीति को त्यागे, और राष्ट्र की संपत्ति का निजी स्वार्थ पूर्ति के लिये दुरुपयोग न करे। इस सबसे भ्रष्टाचार में भी कमी आ सकती है।

आवश्यकता इस बात की है कि आम नागरिक भी अपने अधिकारों के प्रति सजग हो, और वह उनका समुचित उपयोग करें। ऐसा होने पर ही हमें अपनी औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति मिल पाएगी।

* * * *

शैक्षिक दायित्व के निर्वाह में महिलाओं की भूमिका*

सर्वमित्रा सुरजन

शैक्षिक दायित्व के निर्वाह में महिलाओं की भूमिकाएं आज इस विषय पर अपने विचार आपके समक्ष प्रस्तुत करने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है। सबसे पहले मैं आपका ध्यान इस ओर दिलाना चाहती हूं कि इस वर्ष गणतंत्र दिवस के अवसर पर दो महिलाओं शमशाद बेगम और फूलबासन यादव को साक्षरता के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान के लिए पद्मश्री से सम्मानित किया गया। मुझे यह कहते हुए अति प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि ये दोनों विभूतियां मेरे अपने प्रदेश छत्तीसगढ़ से हैं। इन दोनों महिलाओं ने अपनी सामाजिक, जातीय व आर्थिक बाधाओं को पार करते हुए अक्षर का दीपक उन अंधेरे कोनों में प्रकाशित किया, जहां असाक्षरता की सीलन जीवन को लील रही थी। इन्हें आज के जमाने की सावित्रीबाई फुले कहना उचित होगा। जैसा कि आप जानते ही होंगे कि सावित्रीबाई फुले ने तमाम विरोध और बाधाओं के बावजूद भारतीय समाज में स्त्री की शिक्षा की अलख जगाने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1840 में मात्र 9 वर्ष की अवस्था में उनका विवाह पूना के ज्योतिबा फुले के साथ हुआ। सावित्री बाई की स्कूली शिक्षा नहीं हुई थी और ज्योतिबा तीसरी कक्षा तक पढ़े थे। लेकिन उनके मन में सामाजिक परिवर्तन की तीव्र इच्छा थी। इसलिये इस दिशा में समाज सेवा का जो पहला काम उन्होंने प्रारंभ किया वह था अपनी पत्नी सावित्रीबाई को शिक्षित करना। ज्योतिबा फुले ने स्कूली शिक्षा प्राप्त की और अध्यापन का प्रशिक्षण लिया। फुले दम्पति ने इसके बाद 1848 में पूना में पहला बालिका विद्यालय खोला। फिर उस्मान शेख के बाड़े में प्रौढ़ शिक्षा के लिए एक दूसरा स्कूल खोला। दबी, पिछड़ी जातियों के बच्चे, विशेषरूप से लड़कियाँ बड़ी संख्या में इन पाठशालाओं में आने लगीं। इससे उत्साहित होकर देख फुले दम्पति ने अगले 4 वर्षों में ऐसे ही 18 स्कूल विभिन्न स्थानों

*तेजपुर (असम) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

में खोले। महिला होकर पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सावित्री बाई फुले ने काम किया। आज उन्हीं के पदचिन्हों पर चलते हुए शमशाद बेगम और फूलबासन यादव जैसी न जाने कितनी महिलाएं इसी तरह अपने घर.परिवार और समाज को शिक्षा का महत्व समझाने के लिए संघर्षरत होंगी। शैक्षिक दायित्व के निर्वाह में महिलाओं की भूमिका कितनी महत्वपूर्ण है, यह उपरोक्त महिलाओं के उदाहरण से समझा जा सकता है।

गांधीजी का कहना था कि एक आदमी को पढ़ाओगे तो एक व्यक्ति शिक्षित होगा और एक स्त्री को पढ़ाओगे तो पूरा परिवार शिक्षित होगा। यंग इन्डिया में 23 मई 1929 को लिखे गांधीजी के एक लेख से पता चलता है कि उन्हें निरक्षरता स्कूल सुविधाओं का अभाव, भूस्वामियों के शोषण का शिकार होने और ऐसी ही अन्य सामाजिक आर्थिक अक्षमताओं की कितनी जानकारी थी जिनका सामना ग्रामीण महिलाओं को करना पड़ता है। उन्होंने लिखा था जरूरी यह है कि शिक्षा प्रणाली को दुरुस्त किया जाये और उसे व्यापक जनसमुदाय को ध्यान में रखकर तय किया जाये। गांधीजी के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो लड़के.लड़कियों को स्वयं के प्रति अधिक उत्तरदायी बना सके और एक.दूसरे के प्रति अधिक सम्मान की भावना पैदा कर सके। महिलाओं के लिए ऐसा कोई कारण नहीं है कि वे अपने को पुरुषों का गुलाम अथवा पुरुषों से घटिया समझेंगे। उनकी अलग पहचान नहीं है बल्कि एक ही सत्ता है। अतः महिलाओं को सलाह है कि वे सभी अवांछित और अनुचित दबावों के खिलाफ विद्रोह करें। इस तरह के विद्रोह से कोई क्षति होने की आशा नहीं है। इससे तर्कसंगत प्रतिरोध होगा और पवित्रता आयेगी। इसे विरोधाभास ही कहना होगा कि जिस भारत में करोड़ों लोग अर्धनारीश्वर की पूजा करते हैं और जहाँ मनु ने यह घोषणा की कि जहाँ नारी का सम्मान होता है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं। उसी भारत की बहुतेरी भारतीय महिलाएँ आज भी अशिक्षित हैं तथा वांछित रूप में अपनी आवाज संसद या विधान मण्डलों में उठाने में असमर्थ हैं। ग्रेट वीमेन ऑफ इण्डिया की भूमिका में महान् चिन्तक, राजनेता, शिक्षक एवं भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन ने कहा है यह तथ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है कि हम मनुष्य हैं न कि वे भौतिक विशेषताएँ जो हमें एक. दूसरे से अलग करती हैं। अफसोस कि आज भी समाज मनुष्यता से ज्यादा भौतिक एवं शारीरिक आधार को तवज्जो देता है।

ब्रिटिश काल में राजा राममोहन राय और ईश्वरचंद विद्यासागर ने महिलाओं की उन्नति के लिए आवाज उठाई। राजा राममोहन राय ने मैकाले की शिक्षा नीति का विरोध किया तो दूसरी ओर महिलाओं की उन्नति के लिए आवाज बुलंद भी की।

ब्रह्म समाज और उसके बाद आर्य समाज ने भी महिलाओं की उन्नति के रास्ते खोले। महिलाओं को शिक्षित करने का बीड़ा उठाया गया। हमारे मनीषियों ने शिक्षा को विकास, सभ्यता, संस्कृति, सहिष्णुता व प्रगति का पुरोधा माना है। फिर भी यहां व्यापक सामाजिक व आर्थिक जीवन की वास्तविकताएं कुछ ऐसी कठोर और विषम रहीं कि बहुत से लोगों, विशेषकर लड़कियों के लिए शिक्षा दिवास्वप्न बन कर रह गई। स्त्री के जीवन की सभी समस्याओं की जड़ अशिक्षा है। आज प्रत्येक क्षेत्र में अपनी क्षमता सिद्ध करने के बावजूद स्त्री जीवन की राहें आसान नहीं हैं। गाँवों व कस्बों में बालिकाओं की अशिक्षा के लिए प्राचीन मान्यताएँ दोषी हैं। वहाँ अभिभावकों को जागरूक कर पाना कठिन कार्य है। भारतीय समाज में आमतौर पर लड़कियों के लिए विकास का मतलब गृहकार्य में दक्षता, सभ्यता अर्थात निज आजादी को त्याग कर पिता, भाई, पति व पुत्र के संरक्षण में मुस्कुराते हुए रहना, संस्कृति अर्थात अपनी गृहस्थी का सुघड़तापूर्वक संचालन, सहिष्णुता के मायने गाय की तरह खूंटे से बंधकर शांतिपूर्वक रहना और प्रगति जैसे शब्द लड़कियों के लिए गढ़े ही नहीं गए हैं। इस व्याख्या में अतिशयोक्ति का अनुभव हो सकता है। किंतु यह तथ्य है कि रूढिवादी भारतीय समाज अमूमन ऐसी ही धारणा रखता है। लड़कियों की शिक्षा के नाम पर बस उसे साक्षर बनाया जाता है लोगों का नजरिया अभी भी स्त्री शिक्षा के प्रति बहुत ही पिछड़ा हुआ है। लड़कियां पढ़ रही हैं, बढ़ रही हैं, राजनीति, प्रशासन, सेना, विज्ञान, चिकित्सा, कानून, कला, साहित्य, संस्कृति, मीडिया आदि तमाम क्षेत्रों में पुरुषों से कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही हैं, लेकिन उनके लिए प्रत्यक्ष और परोक्ष तौर पर बनी निषेधाज्ञा यही साबित करती हैं कि लड़कियों के लिए प्रगति जैसे शब्द को अर्थहीन बनाने की साजिश जारी है। लड़कियां पढने़ में अच्छी होती हैं। 10 वीं व 12वीं क्लास के नतीजे हर वर्ष बताते हैं कि लड़कियां परीक्षा में अव्वल रहतीं हैं। परंतु फिर भी पहली से लेकर बारहवीं कक्षा तक पहुंचने में उनकी संख्या में तेजी से गिरावट आती है। अधिकतर लड़कियां आठवीं क्लास के बाद पढ़ाई छोड़ बैठती हैं। पुराने रीति.रिवाज उनका जल्दी पीछा नहीं छोड़ते हैं। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी कहानी समाप्ति में लिखा है कि महिलाओं की दो ही श्रेणियां होती हैं. एक कुमारी और एक शादी.शुदा। अफसोस कि आज एक सदी बीत जाने के बावजूद लड़कियों के लिए ये दो श्रेणियां पूर्ववत हैं, उन्हें इन्हीं दो में विभक्त हो कर रहना है। इन दो श्रेणियों में कोई बुराई नहीं है, बुराई इस सोच में है कि लड़कियों का वजूद इनका ही मोहताज होकर रह गया है। सुशिक्षित नारी अपनी शिक्षा, ज्ञान का लाभ समाज को अगर देना चाहे तो उसे लाख बाधाओं का सामना करना पड़ता है। शैक्षिक दायित्व के निर्वाह में महिलाओं की भूमिका को इस पृष्ठभूमि

में समझना होगा।

भारत के विकास में महिला साक्षरता का बहुत बड़ा योगदान है। पिछले कुछ दशकों से ज्यों.ज्यों महिला साक्षरता में वृद्धि होती आई है, भारत विकास के पक्ष पर अग्रसर हुआ है। हालाँकि इसमें और प्रगति की गुंजाइश है। महिला सशक्तिकरण की जब भी बात की जाती है। तब सिर्फ राजनीतिक एवं आर्थिक सशक्तिकरण पर चर्चा होती है पर सामाजिक सशक्तिकरण की चर्चा नहीं होती। ऐतिहासिक रूप से महिलाओं को दूसरे दर्जे का नागरिक माना जाता रहा है। महिलाओं को ऐतिहासिक रूप से शिक्षा से वंचित रखने का षडयंत्र इसलिए किया गया कि न वह शिक्षित होंगी और न ही वह अपने अधिकारों की मांग करेंगी। यानी उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक बनाये रखने में सहूलियत होगी। इसी वजह से महिलाओं में शिक्षा का प्रतिशत बहुत ही कम है। खैर अब बालिका.शिक्षा का महत्व केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों की समझ में आ गया है। और इस दिशा में दोनों के द्वारा महत्वपूर्ण क़दम उठाये जा रहे हैं। यह एक शुभ संकेत है।

देश की सर्वांगीण प्रगति में एक सजग, सफल, सुयोग्य नागरिक के रूप में अपनी भूमिका सुनिश्चित करने हेतु भी प्रत्येक बालिका, स्त्री का शिक्षित होना अनिवार्य है। संविधान ने महिलाओं को अनेक अधिकार प्रदान किये हैं, सरकार ने भी उन्हें कागज़ों पर अनेक सुविधाएँ सुलभ करवायी हैं परन्तु व्यावहारिक जगत् में उन सबकी प्राप्ति शिक्षा के माधयम से ही सम्भव है। महिलाओं के कल्याण के लिए बने तमाम क़ानून और लाभकारी योजनाएँ तब तक बेमानी हैं जब तक बालिका शिक्षा का समुचित प्रसार पूरे देश में नहीं हो जाता। सरकार ने लड़कियों के हकों की खातिर सशक्तिकरण के लिए शिक्षा का नारा दिया हैए लेकिन नारा जितना आसान है लक्ष्य उतना ही मुश्किल हो रहा है। चाईल्ड राईटस एण्ड यू क्राई के मुताबिक भारत में 5 से 9 साल की 53 फीसदी लड़कियां पढना नहीं जानती इनमें से ज्यादातर रोटी के चक्कर में घर या बाहर काम करती हैंए यहां वह यौन उत्पीडन या दुर्व्यवहार की शिकार बनती हैं। 4 से 8 साल के बीच 19 फीसदी लड़कियों के साथ बुरा व्यवहार होता है। इसी तरह 8 से 12 साल की 28 फीसदी और 12 से 16 साल की 35 फीसदी लड़कियों के साथ भी ऐसा ही होता हैं। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो से मालूम हुआ कि बलात्कारए दहेज प्रथा और महिला शोषण से जुड़े मुकदमों की तादाद देश में सालाना 1 लाख से ऊपर है। देश में महिलाओं की कमजोर उपस्थिति मौजूदा संकटों में से एक बड़ा संकट है। सरकार ने लड़कियों की शिक्षा के लिए तमाम योजनाएं बनायी हैं, जैसे घरों के पास स्कूल खोलना, छात्रवृत्ति देना, मिडडेमील चलाना और समाज में जागरूकता बढ़ाना।

राष्ट्रीय बालिका शिक्षा कार्यक्रम के तहत 31 हजार आदर्श स्कूल खुले जिसमें 2 लाख शिक्षकों को लैंगिक संवेदनशीलता में ट्रेनिंग दी गई इन सबका मकसद शिक्षा व्यवस्था को लड़कियों के अनुकूल बनाना है। ऐसी महत्वाकांक्षी योजनाएं सरकारी स्कूलों के भरोसे हैं। लड़कियों की बड़ी संख्या इन्हीं स्कूलों में हैं। इसलिए स्कूली व्यवस्था में सुधार से लड़कियों की स्थितियां बदल सकती हैं। लेकिन समाज का पितृसत्तात्मक रवैया यहां भी रूकावट खड़ी करता है। एक तो कक्षा में लड़कियों की संख्या कम रहती है और दूसरा उनके महत्व को भी कम करके आंका जाता है। हर जगह भेदभाव की यही दीवार होती है। दीवार के इस तरफ खड़ी भारतीय लड़कियां अपनी अलग पहचान के लिए जूझती है। अब महिलाओं ने इस बात को समझना शुरू कर दिया है कि उनके वास्तविक सशक्तिकरण के लिए शिक्षा एक कारगर हथियार है। शिक्षा को अपनी प्राथमिकता सूची में पहले स्थान पर रखने वाली महिला सरपंचों एवं पंचों का स्पष्ट कहना है कि शिक्षा में ही गांव का विकास निहित है और सामाजिक मुद्दों पर काम करने वाली महिला सरपंचों एवं पंचों को ही वास्तविक रूप से सशक्त माना जा सकता हैं।

इस देश में समाज के निम्न वर्ग की औरतें तो हमेशा से ही मजदूरी करती रही हैं, किन्तु उच्च वर्ग की महिलाएँ अधिकतर अपने घरों तक ही सीमित रही हैं। स्वतंत्र भारत में अब महिलाएँ घर की चहारदीवारी से निकलकर अधिकाधिक संख्या में वैतनिक एवं लाभपूर्ण व्यवसायों और काम.धन्धों में आने लगी हैं, जिन पर अब तक पुरुषों का अधिपत्य था। यह एक अपूर्व घटना है और एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में भारत की विशेषता भी है। संविधान में यद्यपि सिद्धान्त रूप में स्त्री और पुरुष को समान अधिकार दिये गये हैं। पर व्यवहार में वह बात नहीं है और अनेक सामाजिक बाधाएँ उनके विकास में बाधक हैं। अतः नारियों को व्यावहारिक रूप से समान अधिकार मिलना चाहिये। भारतीय नारी परिवार, समुदाय और समाज में तभी उत्साहपूर्वक अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकती है, जब सामाजिक जीवन में उसके काम और जीवन की दशाओं में सुधार होगा और वह स्वयं को सामाजिक, आर्थिक व मानसिक रूप से बन्धनमुक्त कर पायेगी।

* * * *

इज्जत के लिए हत्या क्यों?*

डॉ. सुभाष शर्मा

यह कैसी विडम्बना है कि बर्बर आदिम युग की तरह इस तथाकथित आधुनिक, स्वतंत्र एवं सभ्य समाज में भी हत्याएं धड़ल्ले से हो रही हैं । थॉमस हॉब्स ने सदियों पहले कहा था : 'मनुष्य स्वभावतः गन्दा, असभ्य और लघु होता है' यह विचार एक ऐसे ध्रुवान्त पर है जो मनुष्य को जानवरों की तरह जंगली मानता है । मगर दूसरा ध्रुवान्त भी है । प्राचीन यूनान के राजनैतिक दार्शनिक अरस्तू मनुष्य को एक 'सामाजिक प्राणी' मानते हैं अर्थात् प्रत्येक मनुष्य अपनी व्यक्तिता से बढ़कर समूह, संगठन, या समाज का सदस्य होता है अर्थात् 'मनुष्य में समाज' और 'समाज में मनुष्य' निहित होता है । लगभग ऐसा ही विचार जे–जे– रूसो का है जिनका कथन उद्धरणीय है : 'मनुष्य स्वतंत्र पैदा होता है मगर सर्वत्र बेड़ियों में जकड़ा होता है' ज्ञातव्य है कि हॉब्स, लॉक और रूसो तीनों 'सामाजिक समझौते के सिद्धान्त' (Social contract theory) के संस्थापक थे मगर उनके विचार थोड़–थोड़े भिन्न थे । लॉक निजी स्वतन्त्रता का विशेष पक्षधर था और रूसो निजी स्वतन्त्रता के साथ–साथ सामाजिक सरोकारों का भी पक्षधर था । रूसो ने 'निजी इच्छा' और 'सामान्य इच्छा' (जो समुदाय/समाज की सामूहिक राय का प्रतीक है) की बात की है और कानून को 'सामान्य इच्छा' की अभिव्यक्ति माना है । आज इक्कीसवीं सदी में भारत जैसे विकासशील देशों में ही नहीं, बल्कि सं. रा. अमरीका और ब्रिटेन जैसे विकसित देशों में भी यथार्थ इन दो ध्रुवान्तों के बीच में धमाचौकड़ी करता है क्योंकि सचाई प्रायः काली या सफेद नहीं होती, बल्कि भूरी या मटमैली होती है । द्वितीय विश्व युद्ध में महाविनाश झेलने के बावजूद समूचा विश्व नाना प्रकार की हिंसा का शिकार होता रहा है । एक ओर जिस सं. रा. अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 16 जनवरी 1941 को विश्व के नाम प्रसारित संदेश में चार प्रकार की स्वतंत्रताओं का बढ़–चढ़कर बखान किया था (भय से मुक्ति, भूख से मुक्ति, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता एवं पूजा करने की स्वतंत्रता) । उसी एक ध्रुवीय

*पांडिचेरी में आयोजित राष्ट्रीय; संगोष्ठी में पढ़ा आलेख

सं. रा. अमरीका द्वारा कालान्तर में तमाम विकासशील देशों पर कई आक्रमण किये गये (कभी लोकतंत्र न होने के नाम पर, कभी अशांति के नाम पर, कभी गृहयुद्ध को सँभालने के नाम पर, कभी विरोधी विचारधारा रोकने के नाम पर, कभी आतंकवादी गतिविधियों को खत्म करने के नाम पर, तो कभी परमाणु बम के निर्माण को रोकने के नाम पर) अथवा दूसरे देशों को विखंडित कर दिया गया (जैसे सोवियत रूस को) । मगर इस वैश्विक हिंसा के अलावा राष्ट्रीय, प्रान्तीय, स्थानीय एवं पारिवारिक स्तरों पर भी हिंसक घटनाएं घट रही हैं जिनमें कभी राज्य, तो कभी उग्रवादी/नक्सलवादी संगठन, तो कभी राजनैतिक दल, तो कभी अर्धसंगठित समूह, धर्म, जाति, परिवार या छिटपुट व्यक्ति अहम भूमिका निभाते रहे हैं । इस प्रकार हिंसा रूपी बालक को जन्म देने या गोद लेने के लिए तमाम संस्थाएं, समूह, दल, संगठन या व्यक्ति लालायित रहते हैं, यहाँ तक कि वे भी जो अहिंसा की माला जपते हैं औपचारिक एवं प्रत्यक्ष रूप से।

लेबिस हेनरी मोर्गन ने 1877 में 'एनशिएंट सोसायटी' (प्राचीन समाज) नामक पुस्तक की रचना की थी जिसकी भूरि–भूरि प्रशंसा फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति एवं राज्य' की भूमिका में (1884 में) की थी । मोर्गन अमरीकी मानवशास्त्र के संस्थापक थे । मगर अमरीकी विश्वविद्यालयों ने बाद में उनके विचारों को तरजीह नहीं दी, बल्कि रैडक्लिफ–ब्राउन को तरजीह दी जो मोर्गन के विचारों को अनुमान (कंजेक्चर) कहकर खारिज कर दिये, बिना बहस किये । मोर्गन का यह कथन उद्धरणीय है : सभ्यता के आरंभ से ही सम्पत्ति ने इस कदर हाथ–पाँव फैला लिये हैं, उसके रूपों में इतनी विविधता आयी है, उसके उपयोग इतने बढ़े हैं और स्वामियों के हित में उसके प्रबंध में इतनी बुद्धिमता पैदा हुई है कि वह जनता के बस के बाहर की शक्ति हो चुकी है । मानव–मन अपनी ही रचना के सामने हतबुद्धि खड़ा है । फिर भी वह समय आयेगा जब मानव की बुद्धि आगे बढ़कर सम्पत्ति पर अधिकार पायेगी –शासन में लोकतंत्र, समाज में भाईचारा, अधिकारों और सुविधाओं की समानता और सार्वभौम शिक्षा समाज के उस अगले, उच्चतर चरण के संकेत देते हैं जिसकी ओर बुद्धि, अनुभव और ज्ञान लगातार बढ़ रहे हैं । यह प्राचीन गोत्रों की स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व की एक उच्चतर स्तर पर पुनर्स्थापना होगी ।

इसके निम्न निहितार्थ हैं :–

1. स्वतन्त्रता, समता और बन्धुत्व . जो 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के नारे थे ।

2. मनुष्य सम्पत्ति (जो उसकी रचना है) के सामने विवश है–मार्क्स के पहले का यह कथन है। यह मार्क्स के परायेपन–अपनी पैदावार से परायेपन–का पूर्वाभास है। फिर देवी–देवता, भूत–प्रेत, परम्परा, रीति–रिवाज आदि मानव की पैदावार है, मगर बाद में मनुष्य पर शासन करने लगते हैं ।

3. सम्पत्ति के चंगुल से मुक्त होने की संभावना–मगर वह मार्क्स की तरह यह नहीं देख पाये कि पूँजीवाद से उत्पन्न सर्वहारा वर्ग उसका विनाश भी करेगा ।

मोर्गन यह भी मानते थे कि मानव जाति की सभी शाखाएं मोटे तौर पर एक ही प्रक्रिया से, एक जैसे चरणों से गुजरी हैं, भले कोई शाखा दूसरे से बहुत आगे बढ़ गई हो या कोई दूसरी शाखा अन्य से बहुत पीछे रह गई हो । अमरीका की इरोक्वा जनजाति का अध्ययन करके मोर्गन ने प्राचीन रोम, यूनान, जर्मनी आदि समाजों की संस्थाओं को समझने का प्रयास किया था । दूसरी ओर रैडक्लिफ ब्राउन का मानना है कि मानव जाति की शाखाओं के विकास के रास्ते अलग–अलग हो सकते हैं । मेरा मानना है कि विभिन्न मानव समाज में चार प्रकार के तत्वों का समावेश होता है :

(क) संरचनात्मक – सार्वभौम तत्व (Structural & universal)

(ख) संरचनात्मक – विशिष्ट तत्व (Structural&Particularistic)

(ग) सांस्कृतिक – सार्वभौम तत्व (Cultural&universal)

(घ) सांस्कृतिक–विशिष्ट तत्व (Cultural &Particularistic) (Cultural&relativism)

नवकांटवादी लेवी स्त्राउस (कांट के अनुसार वस्तुगत जगत में कोई नियम नहीं होता, हमारा मन घटनाओं और संवृत्तियों पर एक नियम आरोपित करता है) के अनुसार सामाजिक संबंधों का कोई ढाँचा नहीं होता, हमारा मन सामाजिक सम्बन्धों पर एक ढाँचा आरोपित करता है । मगर वस्तुगत नियमों को इनकार करना सचाई से मुँह मोड़ना है । उत्तर भारत में 'बिरादरी' (या 'भैवादी') की अवधारणा मोर्गन के 'फ्रेटरी' का समतुल्य है । एक ही फ्रेटरी के सदस्यों के बीच विवाह की अनुमति नहीं थी, मगर वे दूसरी फ्रेटरी के किसी गोत्र में विवाह कर सकते थे । स्पष्टतः एक ही फ्रेटरी के गोत्र एक मूल गोत्र के उपविभाजन थे और इसलिए अपने ही गोत्र के एक व्यक्ति से विवाह पर लगे प्रतिबन्ध को उसके उपविभाजनों (उपगोत्रों) पर भी लागू किया गया । मगर

जैसे–जैसे कालगत परिवर्तन होते गये, अपने गोत्र को छोड़कर अन्य उपविभाजनों पर से वैवाहिक प्रतिबंध हटा लिये गये । पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश, दिल्ली आदि क्षेत्रों में जाट बिरादरी में अपने गोत्र के अलावा अन्य कई गोत्रों (राठी, हुडा, दहिया, मलिक आदि) में विवाह नहीं करने के प्रतिबन्ध आज भी मौजूद हैं । इस प्रकार फ्रेटरी की सी अवधारणा जाट समुदाय में अब भी कायम है ।

मोर्गन का मानना है कि आविष्कारों के अलावा संस्थाओं के विकास–क्रम निम्न रहे हैं :

(क) जीवन निर्वाह . साधनों में उत्तरोत्तर वृद्धि

(ख) शासन–जंगल युग में गणों (clan) में संगठन, बाद में राजनैतिक समाज (राज्य)

(ग) भाषा–संकेतों की भाषा मुखर भाषा से पहले, जैसे विचार भाषा से पहले आया(छोटे शब्द बड़े शब्दों से पहले आये, बड़े शब्द सुगठित शब्दों से पहले आये ।

(घ) परिवार–रक्त–सम्बन्ध और विवाह सम्बन्ध . वैवाहिक रिवाज ।

(ङ) धर्म–ज्ञान के अनिश्चित तत्वों से धर्म का सम्बन्ध ।

(च) गृहस्थ जीवन और वास्तुकला . जंगल युग की झोपड़ी से बर्बर युग के सामुदायिक निवास और बाद में सभ्य जनगणों के नाभिक परिवार के मकान ।

(छ) सम्पत्ति . भावनाओं पर एक मोह के रूप में सम्पत्ति का वर्चस्व सभ्यता के आरंभ का सूचक . राजनैतिक समाज की स्थापना करने में सहायक

मोर्गन का यह भी मानना है कि शासन के सभी रूपों को दो सामान्य योजनाओं में बाँटा जा सकता है। पहली में समाज (Societas) की इकाई गोत्र है – आदिम काल में उसके एकीकरण के उत्तरोत्तर चरण हैं : गोत्र (gens)–फ्रेटरी–कबीला (ट्राइब)–कबीलों का महासंघ (Confederacy)–जनगण (populus)। बाद में एक ही क्षेत्र के कबीलों के विलय से राष्ट्र (नेशन) का उदय हुआ। दूसरी योजना में भूभाग और सम्पत्ति ज्यादा महत्वपूर्ण है तथा उसे राज्य (Civitas) कहा जा सकता है। अपनी सम्पत्ति के साथ बाड़ों या चौहद्दियों से घिरा हुआ कस्बा या मुहल्ला इस राज्य की इकाई है और राजनैतिक समाज (राज्य) उसकी पैदावार हैं । बाद में काउंटी या प्रान्त कस्बों/मुहल्लों का योग होता है तथा प्रान्तों का योग राज्य होता है । मोर्गन

की यह बात महत्वपूर्ण है कि सम्पत्ति, देवी–देवता, रीति–रिवाज आदि मनुष्य द्वारा बनाये गये मगर ये सब कालान्तर में मनुष्य पर हावी हो गये और वस्तुएं ही कर्त्ता की नियंता बन गईं जिन्हें पूरी तरह बदलने की जरूरत है जिससे मनुष्य के विकास की जरूरत के अनुसार इनका संचालन हो।

मोर्गन ने दिखाया है कि प्राचीन रोम में स्त्री–पुरुष सम्बन्ध के लिए दो शब्द प्रचलित थे :

(क) कोन्युबियम Connubium – विवाह जिसमें यौन सम्बन्ध को मान्यता थी . यह नागरिक संस्था मानी जाती थी ।

(ख) कोंजुजियम Conjugium – मात्र शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना ।

जंगल युग में पतियों का समुदाय और पत्नियों का समुदाय समाज व्यवस्था के केन्द्रीय तत्व थे। परिवार का आरंभ समरक्तता से हुआ – भाइयों का समूह अलग, बहनों का समूह अलग। उसके पश्चात् भाइयों के ऐसे समूह बन गये जिनकी साझी पत्नियाँ होती थीं (जैसे पांडवों की द्रौपदी)। दूसरी ओर बहनों के ऐसे समूह बन गये जिनके साझे पति होते थे। लिंग के आधार पर वर्गों का गठन और नातेदारी (Kinship) के आधार पर गोत्रों का गठन हुआ। पुरुष और स्त्री वर्ग गोत्रों से पहले की चीजें हैं क्योंकि गोत्र उच्चतर स्तर का है।

खैर–'इज्जत के लिए हत्या' का वृहत् इतिहास रहा है भारत में भी और विदेशों में भी । 'इज्जत के लिए हत्या' ऐसी हत्या है जो परिवार या जाति या धर्म या समुदाय के सदस्यों द्वारा इसलिए की जाती है कि पीड़ित व्यक्ति (पुरुष या महिला) ने उस परिवार, जाति, धर्म या समुदाय की इज्जत, प्रतिष्ठा या नाम पर बट्टा (धब्बा) लगाया है अपने किसी कृत्य से। 'संयुक्त राष्ट्र जनसंख्या गतिविधियों के लिए निधि' (यू.एन. एफ.पी.ए.) के एक अनुमान के अनुसार विश्व में 5000 महिलाएं/बालिकाएं प्रतिवर्ष अपने परिवारों द्वारा इज्जत के नाम पर मार दी जाती हैं । मगर मध्यपूर्वी देशों के महिला संगठनों के अनुसार यह संख्या बीस हजार प्रति वर्ष है । उल्लेखनीय है कि इज्जत पर बट्टा लगना वास्तविक सत्य, उसकी कोशिश या संदेह पर भी मान लिया जाता है । इसीलिए 'ह्यूमन राइट्स वाच' ने इज्जत के लिए हत्या की विस्तृत परिभाषा दी है : पहला, यह प्रतिशोधपूर्ण सत्य है, जिसमें प्रायः हत्या की जाती है । दूसरा, प्रायः ऐसी हत्या पुरुषों द्वारा की जाती है जिनका मुख्य उद्देश्य परिवार की महिला सदस्य की हत्या करना होता है जिसने इज्जत पर बट्टा लगाया हो (मगर इस बेइज्जती में जिस बाहरी पुरुष/स्त्री ने अहम भूमिका निभायी हो, उसकी भी हत्या कर दी जाती है)

। तीसरा, बेइज्जती के कई रूप हो सकते हैं : पारम्परिक विवाह न करना, अजाति–धर्म से बाहर विवाह करनाट, बलात्कार का शिकार होना, तलाक चाहना, अथवा जार–सम्बन्ध कायम करना आदि ।

यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन में प्रवासी एशियाई परिवारों में भी इज्जत के लिए हत्या की जाती है क्योंकि वे अपने मूल देश की पितृसत्तात्मक व्यवस्था के रीति–रिवाजों को अपनाते हैं । ऐसा भी देखा गया है कि जो प्रगतिशील महिलाएं पारम्परिक रीति–रिवाजों का विरोध करती हैं, उनकी भी हत्या कर दी जाती है अथवा उन्हें गम्भीर चोटें पहुँचायी जाती हैं । यह कैसी विडम्बना है कि ऐसी हत्याओं को जाति, धर्म, समुदाय, परिवार आदि द्वारा उचित ठहराया जाता है क्योंकि इज्जत पर बट्टा लगने से नैतिक व्यवस्था क्षतिग्रस्त हो जाती है और पूरी जाति या धर्म या समुदाय को 'सामूहिक शर्म' का सामना करना पड़ता है तथा ऐसी सामूहिक मान्यता होती है कि बट्टा लगाने वाली महिला की हत्या कर देने से सामूहिक शर्म दूर हो जायेगी और नैतिक व्यवस्था बहाल हो जायेगी अर्थात् 'सामाजिक संतुलन' पुनः कायम हो जायेगा । कई समाजों में दूसरी जातियों/धर्मों को पूर्णतः खत्म करने अएथनिक क्लीन्जिगट की अवधारणा के पीछे ऐसे ही विचार काम करते हैं । कुछ समाजशास्त्रियों/मानवशास्त्रियों की यह भी मान्यता है कि जैसे–जैसे महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता बढ़ रही है और पिता के अधिकार–क्षेत्र कम हो रहे हैं, वैसे–वैसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था का मुखिया खोये हुए अधिकारों की पुनर्पाप्ति के लिए हिंसक हो रहा है ।

ऐसा भी देखा गया है कि ब्रिटेन में मध्यपूर्व और दक्षिण एशिया से गये तमाम प्रवासी परिवारों में इज्जत के लिए हत्या की वजहें पश्चिमी मूल्यों को अपनाना है : पश्चिमी शैली के कपड़े पहनना अजिससे स्त्री के शरीर के सारे अंग नहीं ढकतेट, लड़कियों द्वारा लड़का–मित्र बनाना, अथवा पारम्परिक विवाहों को अस्वीकार करना आदि । मगर यह भी सही है कि ब्रिटेन में कई प्रवासी परिवार शहरीकरण के तमाम नकारात्मक परिणामों यथा अजनबीपन को सह नहीं पाते और इसलिए अपने मूल देश, जाति, धर्म, वंश से ज्यादा गहराई से जुड़े होते हैं और उनकी परम्पराओं को हृदयंगम करते हैं । दरअसल अपने मूल वतन में, खासकर ग्रामीण इलाकों में, वे देखते हैं कि पुरुषों के अधिकार–क्षेत्र काफी बड़े हैं जबकि ब्रिटेन के महानगरों/कस्बों में परिवार की स्त्रियों और बच्चों के सहकर्मी, सहपाठी किसके साथ उठते–बैठते या खाते–पीते हैं आदि पर पुरुषों का कोई नियंत्रण नहीं रहता । अतः वे इसकी भरपाई के लिए इज्जत के नाम पर हत्या करने से नहीं चूकते । 2001 में बी.बी.सी. (लन्दन) की एशिया

शाखा द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण में (जिसमें 500 हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई और सिक्ख लोग शामिल थे) 10% प्रवासियों ने स्वीकार किया कि यदि कोई उनके परिवार की इज्जत पर बट्टा लगाता या उसका प्रयास करता है, तो उसकी हत्या करना बुरा नहीं है । इससे साफ जाहिर होता है कि इन चारों धर्मों में इज्जत के लिए हत्या करना माफी देने के योग्य है और परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा, परम्परा तथा संस्कार सर्वोपरि है । मानव अधिकार कार्यकर्त्ता हिना जिलानी का यह कथन अत्यंत सारगर्भित एवं प्रासंगिक है : 'पाकिस्तान में महिलाओं को जीवन का अधिकार इस शर्त पर मिला है कि वे सामाजिक नियमों और परम्पराओं का अनुपालन करें ।' निःसंदेह, सामन्ती मानसिकता इस बाबत मुख्य कारण होती है मगर दूसरी ओर यह भी सच है कि भारत, पाकिस्तान, तुर्की, अफगानिस्तान, मध्य–पूर्व आदि में शिक्षित लोग भी इज्जत के लिए हत्या करते हैं, ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं अथवा ऐसे अभियुक्तों को संरक्षण देते हैं । ये शिक्षित या अर्ध–शिक्षित लोग समाज के ठेकेदार होते हैं, मसलन धार्मिक नेता, जातिगत/सामुदायिक नेता, वगैरह । 2008 में तुर्की के कुर्द बहुल इलाके में किये गये एक सर्वेक्षण में यह बात साफ तौर पर उभरी कि इज्जत के लिए हत्या करने के लिए उकसाने वालों में 60% विद्यालय अथवा विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा प्राप्त थे । जाहिर है, हमारी शिक्षा एक बनी–बनायी लीक पर चल रही है और लोगों को सचेत नहीं बना रही है ।

इसके अलावा ऐसे भी दृष्टांत सामने आये हैं जिसमें समलैंगिकता के कारण हत्याएं की गई हैं, विशेषकर मध्यपूर्व एशियाई देशों और लातीनी अमरीका में । ब्राजील, अर्जेंटाइना, जोर्डन, तुर्की में ऐसी घटनाएं घट चुकी हैं। ज्ञातव्य है कि बड़े–बड़े धर्मों के आविर्भाव के पूर्व छोटे–छोटे धर्मों में इज्जत के लिए हत्या की प्रथाएं विश्व के तमाम देशों में प्रचलित थीं। कहने का आशय यह है कि यह कुप्रथा संस्कृति, धर्म और देश की सीमाओं को तोड़ती रही है। हम्मूरबी और अन्य असीरियाई आदिवासियों में 12वीं शताब्दी ई.पू. में इज्जत के लिए हत्या का स्रोत इस विश्वास में निहित था कि स्त्री का कौमार्य उसके परिवार की सम्पत्ति है। उदाहरणार्थ, बेबोलिनियाई समाज में जारकर्म के संदेह वाली महिलाएं नदी में कूदने के लिए बाध्य की जाती थीं जिससे वे सिद्ध करें कि वे निर्दोष हैं। मिस्र में जारकर्म की दोषी महिलाओं को कारागार में कैद करने, कोड़े लगाने या अंग–भंग करने की सजा दी जाती थी। प्राचीन चीन में जारकर्म वाली महिलाओं के सिर के बाल उनके पति काट डालते थे और उन्हें हाथियों से कुचलवा दिया जाता था। प्राचीन पर्सिया में जारकर्म वाली महिलाओं को जीते जी कुएं में ढकेल दिया जाता था। लातीनी अमरीका की कुछ आदिम जनजातियों में जारकर्म वाली

महिलाओं का अंग–भंग कर दिया जाता था और उनके शरीर की बोटी–बोटी काट दी जाती थी । आगा खान विश्वविद्यालय की प्रो. ताहिरा साइद खान का मानना है कि 'कुरान' में इज्जत के लिए हत्या का कोई जिक्र नहीं है, बल्कि 'कुरान' जीवन के अधिकार की बात करता है । मगर विभिन्न वर्गों, धार्मिक एवं प्रजातीय समूहों में नकारात्मक रुख देखने को मिलता है जो महिलाओं को महज अधिकारहीन 'सम्पत्ति' के रूप में देखता है : एक ऐसे उत्पाद के रूप में जिसका विनिमय किया जा सकता है, जिसे खरीदा–बेचा जा सकता है । कुछ दकियानूसी कठमुल्ले 'कुरान' की गलत व्याख्या करते हैं और प्रचारित करते हैं कि इस्लाम इज्जत के लिए हत्या करने वालों को माफी देता है, और उनका समर्थन करता है । शायद इसीलिए जोर्डन के 20% लोग विश्वास करते हैं कि इस्लाम में ऐसी हत्या करना जुर्म नहीं है,–क्योंकि अक्षत कुँवारापन और 'मेहर' जैसे धार्मिक प्रावधान इज्जत को सर्वोपरि मानते हैं। तुर्की के प्रधानमंत्री के मानवाधिकार निदेशालय ने 2008 में स्वीकार किया था कि गत पाँच वर्षों में वहाँ 1000 हत्याएं इज्जत के नाम पर की गई। 2009 में तुर्की में महज दो दिन के नवजात शिशु की हत्या इसलिए कर दी गई कि उसकी माँ के तलाकशुदा होने पर उसका जन्म हुआ था। उसकी माँ ने पुलिस को बयान दिया था कि उसके परिवार ने इज्जत के नाम पर हत्या करने का निर्णय लिया था। इसी प्रकार 2008 में सउदी अरब में एक लड़की की हत्या उसके पिता ने इसलिए कर दी कि वह 'फेसबुक' पर एक पुरुष से गपशप (चैटिंग) कर रही थी। लेबनान में प्रति वर्ष चालीस से पचास हत्याएं इज्जत के नाम पर की जाती हैं। इसी प्रकार यूरोप और सं.रा. अमरीका में 90% इज्ज्त के लिए हत्याएं मुस्लिम परिवारों से संबंधित होती हैं – एक मुसलमान पुरुष एक मुसलमान स्त्री की हत्या करता है क्योंकि उसका सत्य धर्म के खिलाफ माना जाता है। मगर सरकारों और जनसंचार माध्यम इन घटनाओं को ज्यादा प्रचारित नहीं करते जिससे उन्हें 'सांस्कृतिक रूप से असंवेदनशील' न मान लिया जाये । इस प्रकार स्पष्ट है कि पवित्र धार्मिक ग्रन्थों में इज्जत के लिए हत्या का प्रावधान न होते हुए भी कठमुल्ले गलत व्याख्या करते हैं और शुद्धता के नाम पर, इज्जत के नाम पर हत्या करने के लिए उकसाते हैं ।

लातीनी अमरीका में इज्जत के नाम पर हत्या को 'दहेज–हत्या' और 'बहू–दहन' की भी संज्ञा दी जाती है। भारत के तमाम इलाकों में ऐसी घटनाएं आये दिन घटती रहती हैं। पेरू में 70% महिलाओं की हत्याएं उनके पतियों या पुरुष–मित्रों द्वारा की जाती हैं जिनमें स्त्रियों का चरित्रहीन होने का संदेह प्रमुख कारण होता है । ब्राजील में 1991 तक पत्नी की हत्या करना, इज्जत के लिए हत्या करना कोई अपराध नहीं

था–उस साल 800 पत्नियों की हत्याएं वहाँ की गई थीं। 1980 तक कोलम्बिया में कोई भी पति अपनी पत्नी की हत्या जारकर्म करने के कारण वैधानिक रूप से कर सकता था। पाकिस्तान में इज्जत के लिए हत्या को 'करो–करी' कहा जाता है। वहाँ पारम्परिक विवाह न मानने पर या विवाहेतर संबंध से गर्भधारण करने पर महिलाओं की हत्या कर दी जाती है। 1991–2004 के दौरान 4000 से अधिक हत्याएं वहाँ इज्जत के नाम पर कर दी गईं। 2005 में यह संख्या दस हजार हो गईं। इन हत्याओं को आत्महत्या या दुर्घटना में हुई हत्या का नाम दे दिया जाता है। वहाँ एक ओर महिलाओं को सम्पत्ति या वस्तु के रूप में देखने तथा दूसरी ओर उन्हें इज्जत का रूप मानने के कारण ऐसी हत्याएं होती हैं जिन्हें सरकार और पुलिस नजरअन्दाज करती है ।

भारत में इज्जत के नाम पर हत्या के कई रूप हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

(क) जाति के बाहर विवाह करना
(ख) धर्म के बाहर विवाह करना
(ग) गोत्र के भीतर विवाह करना ञमनोज बनवाला और बबली का विवाह, कैथल, करनाल, हरियाणा मेंट
(घ) गाँव के भीतर विवाह करना
(ड) पारम्परिक विवाह न करना
(च) दहेज–हत्या
(छ) बलात्कार की गई स्त्री ञया चरित्रहीन होने के संदेह परट का परिवार द्वारा बहिष्कार/हत्या
(ज) भ्रूण हत्या
(झ) समलैंगिकता के कारण हत्या

ऐसी प्रथा उत्तर भारत के राज्यों यथा पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तराखंड आदि में ज्यादा प्रचलित है जबकि दक्षिण भारत और पश्चिमी भारत यथा गुजरात और महाराष्ट्र में नगण्य है। जाट जाति में यह समस्या सबसे ज्यादा गंभीर है। इसका कारण यह है कि जाति, धर्म, गोत्र, स्थान जैसे पारम्परिक बन्धन उत्तर भारत में ज्यादा व्याप्त हैं और समाज में आधुनिक चेतना का अभाव है। मोटे तौर पर यह हिन्दी भाषा–भाषी पट्टी है जहाँ सामाजिक/धार्मिक सुधार अपेक्षाकृत काफी कम हुए हैं। यह क्षेत्र आर्थिक रूप से भी पिछड़ा हुआ है और शैक्षिक रूप से भी। पूर्वी भारत, खासकर पश्चिम बंगाल में इज्जत के नाम पर हत्याएं पहले होती थीं मगर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में वहाँ जोरदार सामाजिक सुधार आन्दोलन हुए जिनमें विवेकानन्द, राजाराममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर आदि का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय

है । समाजशास्त्रीय विश्लेषण करने से यह स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत में विवाह रूपीवृत्त की परिधि सीमित एवं संकुचित है : सबसे पहले जाति की परिधि आती है अर्थात् जाति के भीतर ही विवाह किया जाना चाहिए । इसीलिए जाति को 'विवाहयोग्य' (इंडोगैमस) समूह कहा जाता है । दूसरी बृहत्तर परिधि धर्म की है–धर्म के भीतर ही विवाह करना है, बाहर नहीं । तीसरी परिधि गोत्र की है जो 'अविवाहयोग्य' समूह माना जाता है क्योंकि पारम्परिक धारणा के अनुसार यह रक्तसंबंध वाला समूह है यानी गोत्र के सारे स्त्री–पुरुष भाई–बहन हैं अतः उनके साथ लड़का या लड़की का शारीरिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता अर्थात् विवाह नहीं किया जा सकता। कई समुदायों में माँ और पिता दोनों के गोत्रों में शादी नहीं हो सकती। अन्य समुदायों में माँ–पिता की सात पीढ़ियों तक शादी नहीं होती। चौथी परिधि गाँव की है जिसके भीतर विवाह नहीं किया जा सकता क्योंकि गाँव के लड़के–लड़कियाँ भाई–बहन होते हैं–इसे 'गाँव की नातेदारी' (विलेज किनशिप) कहा जाता है । पाँचवीं परिधि है परिवार के माँ–बाप, दादा–दादी जैसे बुजुर्गों की आशा के अनुरूप, उनके द्वारा चयनित लड़के/लड़की से विवाह करना । यहाँ बुजुर्गों का प्राधिकार अहमियत रखता है । यह 'पारम्परिक विवाह पद्धति' है जिसके अनुसार विवाह महज दो व्यक्तियों के बीच संबंध मात्र नहीं हैं, बल्कि दो परिवारों के बीच रिश्ता है जो उनकी पवित्र इच्छा, प्रतिष्ठा, 'ज्ञात' जानकारी और खानदानी शुद्धता पर आधारित है। इसके अलावा पारम्परिक विवाह हिन्दुओं में एक 'संविदा' नहीं माना जाता (जबकि मुस्लिम और ईसाई विवाह एक संविदा होता है) जिसे इच्छानुसार तोड़ा जाये बल्कि इसे दो परिवारों के बीच सात जन्मों का पवित्र बन्धन माना जाता है ।

इज्जत के लिए हत्या के वृहत्तर अर्थ में 'दहेज–हत्या' भी शामिल है क्योंकि प्रायः वर पक्ष के परिवार वाले ज्यादा/मनचाहा दहेज अपनी इज्जत और शान–शौकत बढ़ाने के लिए माँगते हैं और न देने पर बहू की हत्या कर दी जाती है । निःसंदेह लालच और उपभोक्तावादी प्रवृत्ति इसके पीछे काम करती है मगर यह भी सच है कि अक्सर नयी पीढ़ी के ब्याहे युवक नए–नए शौक पूरे करना चाहते हैं जबकि बेरोजगारी या अर्ध–बेरोजगारी या योग्यता से कमतर नियोजन के कारण वे अपनी मनोकामनाएं पूरी नहीं कर पाते, सो वे अधिकतम दहेज चाहते हैं। फिर पर्याप्त दहेज न मिलने पर बहुओं को प्रताड़ित किया जाता है और कई बार उनकी हत्या भी कर दी जाती है। मगर पुलिस समय पर जरूरी साक्ष्य नहीं जुटाती और अभियोजन तथा न्यायपालिका के पीठासीन पदाधिकारियों की संवेदनशीलता कम होने के कारण दहेज–हत्या में अधिकतर मामलों में सजा नहीं हो पाती। दूसरी ओर यह भी कटु सत्य है कि बहुत सारे

झूठे मामले दहेज के लिए प्रताड़ित करने के बाबत दर्ज कराये जाते हैं जबकि दो व्यक्तियों के व्यक्तित्वों की टकराहट, भिन्न दृष्टिकोण, अपेक्षा और व्यवहार में अन्तर या अन्य कारणों से भी पति–पत्नी या सास–बहू, ननद–भाभी आदि में मतभेद और मनभेद होते हैं ।

यह विडम्बना है कि महिलाओं पर होने वाले अपराधों की संख्या बढ़ रही है जबकि अभियुक्तों की सजा का फीसद घट रहा है : 1973 में भारत में कुल बलात्कारों की संख्या 2919 थी जो 2010 में बढ़कर 20,262 हो गई । 1973 में बलात्कार के मामलों में सजा पाने वालों का फीसद 44–28 था जो 1983 में घटकर 36–83, 1993 में 30–30, 2003 में 26–12 और 2010 में 26–54 हो गया जबकि इस दौरान पुलिस का प्रशिक्षण और अनुसंधान की सुविधाएं काफी बढ़ीं । कई राज्यों में बलात्कारियों की सजा का फीसद राष्ट्रीय औसत से बहुत कम है । उदाहरणार्थ, 2010 में महाराष्ट्र में 13–9%, आंध्र प्रदेश और पश्चिम बंगाल में 13–7%, कर्नाटक में 15–4% और जम्मू कश्मीर में मात्र 2–6%। दूसरी ओर उत्तर पूर्वी राज्यों में बलात्कार के अभियुक्तों की सजा अपेक्षाकृत अधिक है–नागालैंड में 73–7%, अरुणाचल प्रदेश और सिक्किम में 66–7%, मेघालय में 44–4% और मिजोरम में 96–6% । दूसरी ओर हत्या के मामले 1973–2010 के दौरान 10754 से बढ़कर 35531 हो गये और उनके अभियुक्तों की सजा का प्रतिशत 47–14 से घटकर 38–74 हो गया मगर यह घटोत्तरी बलात्कार के अभियुक्तों की सजा में हुई घटोत्तरी से कम है। उससे सिद्ध होता है कि इन कांडों का अनुसंधान करने वाली पुलिस, अभियोजन तंत्र तथा न्यायपालिका हत्या के मामलों में ज्यादा संवेदनशील है और बलात्कार के मामलों में कम संवेदनशील है। मगर कम सजा होने का दूसरा कारण यह भी है कि भारत में अधिकतर बलात्कारी परिवार के सदस्य, रिश्तेदार, मित्र या परिचित होते हैं–90% संपूर्ण भारत में और 96–6% दिल्ली में। 2007 में भारत सरकार द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण में पाया गया कि 53% लड़कियों ने स्वीकार किया कि वे एक या अधिक बार यौन हिंसा की शिकार हुईं। तीसरा कारण यह है कि पुलिस बल में कमी भी है–133 पुलिस बल प्रति एक लाख जनसंख्या (2010) पर जबकि इसे 250 पुलिस बल प्रति लाख जनसंख्या होना चाहिए।

विशेषकर इज्जत के नाम पर हत्या रोकने तथा सामान्य रूप से महिलाओं के विरुद्ध हिंसा/अपराध रोकने के लिए त्वरित/द्रुत न्यायालयों की स्थापना आवश्यक है जो तीन–चार माहों में निर्णय दें । इज्जत के लिए हत्या रोकने के लिए कुप्रथाओं और सामन्ती सोच के विरुद्ध चेतना भी जागृत करने की जरूरत है, दोषी व्यक्तियों के

खिलाफ कालबद्ध ढंग से सजा सुनिश्चित करने की आवश्यकता है, अन्तर–जातीय एवं अन्तर–धार्मिक विवाहों को प्रोत्साहित करने की जरूरत है, पारम्परिक जाति पंचायतों/खाप पंचायतों एवं समाज के तथाकथित ठेकेदारों के अलोकतांत्रिक निर्णयों के लिए उनके खिलाफ द्रुत एवं कठोर कानूनी कार्रवाई करने की आवश्यकता है, विभिन्न पाठ्यक्रमों में रक्त, गोत्र या जाति की शुद्धता की अवैज्ञानिकता को शामिल करने की जरूरत है जैसा कि भारत के मानवशास्त्रीय सर्वेक्षण ('भारत के लोग' श्रृंखला) में पाया गया है कि भारत में चार हजार से अधिक समुदाय हैं और उनमें पाये जाने वाले रक्त मिले–जुले हैं तथा पूर्ण रक्त शुद्धता और जातिगत शुचिता कोरी कल्पना मात्र है। किसी भी देश/प्रदेश का निवासी, किसी भी भाषा का बोलने वाला, किसी भी धर्म का अनुयायी, अथवा किसी भी जाति या गोत्र का सदस्य पूरी निष्ठा से यह दावा नहीं कर सकता कि उसका रक्त पूर्णतः पवित्र या शुद्ध है। मगर यह भी सच है कि जाति के आधार पर सेवाओं और शैक्षिक संस्थाओं में आरक्षण किये जाने के कारण अन्तर–जातीय विवाह की मुहिम को गहरा धक्का लगा है तथा जातिगत पंचायतों और सभा–सम्मेलनों को फलने–फूलने का नया मौका मिला है। अस्तु, इज्जत के नाम पर हत्या करना अपराध ही नहीं, अवैज्ञानिक एवं अनैतिक भी है जिसकी घोर निन्दा ही नहीं की जानी चाहिए, बल्कि उसे जड़ से मिटाने के लिए भी मनसा–वाचा–कर्मणा हरसंभव प्रयास हर स्तर पर और हर जगह किया जाना चाहिए ।

यह कैसी विडम्बना है कि एक ओर भूमंडलीकरण का शोर प्रायः सभी देशों में है, एक देश का व्यक्ति दर्जनों देशों में बने हुए भोजन, कपड़ों, इलेक्ट्रॉनिक सामानों, 'चलबोला' ञमोबाइलट, टी.वी., इंटरनेट (अंतरजाल) आदि का उपयोग कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर दकियानूसी सामन्ती विचार एवं कुप्रथाएं लोगों को दिग□मित कर रही हैं और शासन–प्रशासन तन्त्र, कानून और न्याय के मोटे–मोटे ग्रन्थ तथा उन पर आश्रित तमाम लोग ऐसे आपराधिक तत्वों का बाल बाँका नहीं कर पा रहे हैं। ऐसे माहौल में न्यायपालिका, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, स्वयंसेवी संस्थाओं (जो दुर्भाग्यवश बाह्य सहायता पर ज्यादा आश्रित हो गये हैं) को एकजुट होकर सक्रिय भूमिका निभानी है क्योंकि इन मानवाधिकारों का उल्लंघन सम्पूर्ण मानवता का अपमान है। अस्तु, राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को भी खुलकर और डटकर ऐसी बुराइयों का सामना करना अनिवार्य एवं वांछित है।

कालिदास ने एक श्लोक में कहा है : न तो सभी पुरानी चीजें खराब होती हैं और न सभी नयी चीजें अच्छी होती हैं (विवेकशील लोग अच्छे–बुरे का निर्णय अपने विवेक से करते हैं। इसलिए परम्पराओं को विवेक की कसौटी पर कसकर ही देशकाल

की प्रासंगिकता के आलोक में अपनाने की जरूरत है, न कि अंधानुकरण (adapt, not adopt) प्रगतिशील परम्पराओं को प्राथमिकता दी जाये और प्रतिगामी परम्पराओं को त्याग दिया जाये। 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने' (तुलसीदास) । फ्रेडरिक एंगेल्स का यह मानना सही है कि इतिहास में अंतिम निर्णायक तत्व जीवन का उत्पादन और पुनरुत्पादन ञरिप्रोडक्शनट है। मगर एक ओर जीवन के आवश्यक साधनों (भोजन, वस्त्र, मकान) और इन चीजों के लिए आवश्यक औजारों का उत्पादन होता है, तो दूसरी ओर मनुष्यों का उत्पादन होता है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था इन दोनों प्रकार के उत्पादनों (श्रम के विकास की अवस्था और परिवार के विकास की अवस्थाट से निर्धारित होती है। श्रम का विकास और उत्पादन की मात्रा जितनी कम होती है, और इसीलिए समाज की सम्पदा जितनी सीमित होती है, समाज–व्यवस्था में रक्त–सम्बन्धों का प्रभुत्व उतना ही अधिक जान पड़ता है। मगर भारत में हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी उत्तर प्रदेश अपेक्षाकृत विकसित (आर्थिक दृष्टि से) इलाके हैं, फिर भी विवाह आदि के मामले में वहाँ जाति, गोत्र आदि के पारम्परिक नियमों का कड़ाई से पालन होता है तथा भ्रूण हत्या होने के कारण लिंगानुपात संतोषजनक नहीं है। मेरी समझ से इसका एक कारण कुछ जातियों का सामाजिक, आर्थिक, भौगोलिक एवं राजनैतिक प्रभुत्व भी है क्योंकि हरियाणा, पंजाब और पश्चिम उत्तर प्रदेश में जाट जाति का दबदबा है और वहां के राजनीतिक प्रतिनिधिगण भी इन जाति/खाप पंचायतों से डरते हैं।

कहने की जरूरत नहीं कि भारत नाना प्रकार के विरोधाभासों का देश है :

(क) सामाजिक विरोधाभास–बालक–बालिका में फर्क, सास–बहू में फर्क, वृद्धों का बढ़ता रुतबा बनाम वृद्धों की बेचारगी/उपेक्षा, संयुक्त परिवार बनाम एकल परिवार

(ख) आर्थिक विरोधाभास–शहर एवं गाँव में बढ़ता फर्क, अमीर और गरीब वर्गों में बढ़ता फर्क, नियोजन में इंजीनियरिंग/प्रबन्धन तथा सामाजिक विज्ञान/मानविकी में बढ़ता फर्क–दुनिया में हर 25 अरबपतियों में एक अरबपति (1 अरब डालर, 50 अरब रु.) भारतीय है। फोर्ब्स (2012) सूची में 1226 अरबपतियों (डालर) में 48 भारतीय हैं ।

(ग) सांस्कृतिक विरोधाभास–परम्परा बनाम आधुनिकता, परम्पराओं का आधुनिकीकरण, आधुनिकता का पारम्परीकरण, देशज बनाम विदेशज, निष्पक्ष जनसंचार बनाम बिका हुआ जनसंचार (पेड न्यूज)

(घ) राजनैतिक विरोधाभास–चुनाव बनाम वंशवाद, लोकतंत्र बनाम दलगत/व्यक्तिगत तानाशाही (अध्यक्ष से आलाकमान), स्वतंत्र चुनाव बनाम मतों की खरीदगी, खुली/निर्वाचित ग्राम पंचायत बनाम नामांकित जाति/खाप पंचायत ।

(ड) बहुआयामी विरोधाभास–आर्थिक सम्पन्नता बनाम सामाजिक विपन्नता (हरियाणा, दिल्ली, गुजरात, पंजाब में लिंगानुपात असंतोषजनक, भ्रूण हत्या, कन्या शिशु हत्या, पंजाब–हरियाणा में इज्जत के लिए हत्या)–हरियाणा में बालिकाओं के प्रति नकारात्मक रवैया मगर राष्ट्रकुल खेलों में जीती हुई बालिका खिलाड़ियों का उनके गाँव/पंचायत में भव्य सम्मान।

अन्त में कहा जा सकता है कि भारत के संक्रमणशील समाज में रक्त सम्बन्धों (जाति, गोत्र, वंश, परिवार) को ज्यादा तरजीह अब भी दी जा रही है और विधि का शासन सही मायने में लागू नहीं है। यद्यपि संविधान तथा कतिपय कानूनों में स्वतंत्रताओं/अधिकारों के न्यायप्रद प्रावधान किये गये हैं अर्थात् हमारा राज्य लोकतांत्रिक और पंथ–निरपेक्ष है मगर हमारा समाज लोकतांत्रिक/पंथ–निरपेक्ष नहीं बन सका है। इसीलिए इज्जत के नाम पर महिलाओं की हत्याएं की जा रही हैं। मगर दूसरी ओर पश्चिमी देशों में संयुक्त परिवारों का विघटन होने से एकल/नाभिक परिवार ञपति, पत्नी, बच्चेट का प्रचलन हुआ और बाद में अकेले रहने ञपरिवारहीनट की प्रवृत्ति बढ़ी है जो व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पराकाष्ठा है मगर सामाजिकता को नकारना उचित नहीं है । संयुक्त राज्य अमरीका में 28%, स्वीडन में 47%, ब्रिटेन में 34%, जापान में 31%, इटली में 29%, कनाडा में 27%, रूस में 25%, दक्षिण अफ्रीका में 24% लोग एकाकी जीवन (बिना परिवार का) व्यतीत कर रहे हैं जबकि भारत में 3%, ब्राजील में 10%, और केन्या में 15% लोग एकाकी जीवन जी रहे हैं। यह पाश्चात्य एकाकी जीवन प्रणाली भारत जैसे विकासशील देशों के लिए अनुकरणीय नहीं है क्योंकि परिवार सामाजीकरण की प्राथमिक इकाई है जिससे मनुष्यता की नींव बच्चे में पड़ती है। अस्तु, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक सरोकार के बीच न्यायप्रद संतुलन बनाने की महती आवश्यकता है ।

* * * *

स्त्री विमर्श, भूमण्डलीकरण एवं मानवाधिकार*

डॉ. स्वाति तिवारी

स्त्री की सामाजिक स्थिति एवं उनके मानव अधिकारों के हनन को केन्द्रित करते हुए किसी विद्वान ने कहा था कि, वह सब जगह है, फिर भी कहीं नहीं। उसके बिना ना सृष्टि बनती है ना समाज, ना घर, ना परिवार पर वह क्या बनती है इसकी चिन्ता किसी को नहीं? उसका होना परिवार के होने की शर्त है पर उसके होने ना होने की परवाह कौन करता है? किसको फर्क पड़ता है। कौन है वह? वह कोई भी हो सकती है किसी घर, किसी भी समाज, किसी भी धर्म, किसी भी वर्ग की। उसकी सम्पन्नता या विपन्नता भी उसकी स्थिति को ज्यादा प्रभावित नहीं करती दुनिया भर में वह सदैव हाशिए पर धकेली जाती है।

आज युग बदल गया, वैश्वीकरण और बाजारवाद के चलते जीवन और परिस्थितियां बदल गई। किन्तु सवाल यह है कि स्त्री की दुनिया कितनी बदली? बदली भी या नहीं ? और जो थोड़े से बदलाव ऊपर से दिखाई देते हैं उनके अन्दर का सच क्या है ? एक सच है कि तमाम बदलावों के बावजूद औरत यानी उपेक्षिता, यानी दोयम दर्जा। या तो वह देवी है जिसे मंदिरों में पत्थरों को तराश कर बिढाया गया है या फिर वह डायन है जिसे पत्थर मार–मारकर मार डाला जाता है। यह सब तो ठीक वह खूंटे पर बधीं गाय–बकरी है जिसे उससे पूछे बगैर दूसरे खूंटे पर बांध दिया जाता है। नहीं तो फिर वह दान की वस्तु है जिसका कन्यादान किया और लिया जाता। करने वाला कन्यादान करके पुण्य कमाता है कहता है एक चिन्ता थी दूर हुई गंगा नहाए। दूसरा दान लेकर महान हो जाता है उसमें देवत्व समा जाता है। रोटी कपड़ा और छत देकर उपकृत करता है। फिर चाहे वह राजघराना हो चाहे कंगले की झोपड़ी जब चाहे जुए के दाँव पर लगा सकता है। उसको घर की इज्जत और पगड़ी से तोला जाता है। क्या हम उसके अधिकारों की बात कर रहे हैं? पूछना चाहती हूँ क्या अधिकार वस्तुओं को

*मैसूर (कर्नाटक) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

दिए जाते हैं? नहीं बल्कि उन पर जोर–जबरदस्ती से अधिकार किए जाते हैं – हम आधी दुनिया की इसी वस्तु समझी जाने वाली स्त्री पर विमर्श, वैश्विीकरण और मानव अधिकारों की बात करने जा रहे हैं, जिसके लिए मानवाधिकार आज भी अमृत ही है।

दरअसल हमारे समाज में पारम्परिक तौर पर यह स्थिति कभी नहीं रही कि स्त्रियों को रचनात्मक कार्यक्षेत्र में या पारिवारिक सत्ता श्रृंखला में पुरूष के बराबर का दर्जा दिया गया हो। चाहे परशुराम द्वारा पिता के इशारे पर निरपराध माता के वध का प्रसंग हो, या गौतम का इंद्र द्वारा छली गई अपनी पत्नी को शिला बना देने का, शकुन्तला का निर्वासन हो या सीता का परित्याग, गांधारी का अभिशप्त अंधा वैवाहिक जीवन हो या कुंती का उतना ही अभिशप्त मातृत्व। द्रोपदी का चीरहरण हो चाहे दिल्ली की अनुराधा की भूख और भय से मौत। बसमतिया हो भँवरीबाई, फूलनदेवी हो या नैना साहनी, जैसिका लाल हो, राजस्थान में मार डाली गई नर्स भँवरीबाई इन सब का सफर यह सिद्ध करता है कि हर परिदृश्य की सबसे कमजोर और दबी हुई इकाई स्त्री ही रही है। यहाँ तक कि पुरूषों के अपराधों की सजा भी हमेशा स्त्री को ही दी जाती है। पुरूषों को दी जाने वाली गालियाँ भी अपमानित स्त्रियों को ही करती है। फिर चाहे वह कोई भी हो, वह किसी गाँव खेड़े की अनपढ़ डायन बना दी औरत हो चाहे ब्रिटेन की राजकुमारी प्रिंसेस डायना। श्रृंखला की ये कड़ियाँ क्या कहती है? यही कि क्या औरतों को उनके मानवाधिकार मिले हैं? नहीं ये कहानियाँ कहती हैं कि महिलाओं के विरूद्ध हिंसा, अत्याचार, शोषण, यंत्रणा की समस्या आज भी ज्यों की त्यों है। महिला उत्पीड़न के मूल में निरक्षरता, रूढ़िवाद और अन्ध–विश्वास जैसे का तैसा है – वैश्वीकरण के चलते जो संचार क्राँति आई है उसने कम से कम हमारी आँखें तो खोल कर रख दी है। अमर्त्य सेन की एक रिपोर्ट में देखा गया है कि भारत में 3 करोड़ सात लाख लड़कियाँ मिसिंग हैं। यह मिसिंग क्या है? पुत्र मोह में मार दी गई लड़कियों की संख्या है यह। नवरात्रि के पर्व पर कन्यापूजन करने वाले देश में पड़ोसी की कन्या को बुलाकर भोजन करवाकर देवी की पूजा करने वाले अपनी कोख में बेटी आने पर कन्या भ्रूण हत्या कर देते हैं। यूनिसेफ की ''राष्ट्रों की प्रगति'' नामक रिपोर्ट में उल्लेख है कि अतीत में सात करोड़ भ्रूण सिर्फ इसलिए मार डाले गए क्योंकि वे कन्या के रूप में जन्म लेने वाले थे।

यूनिसेफ में 1995 की 'भारतीय राज्यों की प्रगति' में अलर्ट करते हुए कहा था कि – 4–5 करोड़ स्त्री आबादी विलुप्त होती जा रही हैं पर हम अलर्ट नहीं हुए अब झकझोर देने वाली सच्चाई हमारे सामने हैं। 2011 की जनगणना में हमें खतरनाक स्थिति दिखाई दे रही हैं। जिसके अनुसार भारत में लिंग अनुपात अब तक के सबसे

नीचे के स्तर पर पहुंचकर 914 हो गया है। 27 राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों में शिशु लिंग अनुपात में लगातार गिरावट देखी गई है। अब हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश सब बेटी बचाओ में लगे हैं। पर बेटियाँ बचेंगी तब जब उन्हें उनके मूल अधिकार दिए जायगें। कब तक उसे समानता, आत्म सम्मान और न्याय से वंचित रखा जायगा। हमारी परम्पराओं ने स्त्री का ऐसा समाजीकरण किया है कि अधीनता, परतन्त्रता को वह खुद गहरे तक आत्मसात कर बैठी है। स्वास्थ्य, शिक्षा, राजनीतिक, स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता यहाँ तक की व्यक्तिबोध जैसे मौलिक अधिकारों से भी वह वंचित है।

वह इस समय संक्रमण काल से गुजर रही है। इस समय वह वस्तु से मनुष्य बनने की प्रक्रिया से गुजर रही है। वे पढ़–लिख रही हैं कारखानों, दफ्तरों में काम कर रही हैं, वे चूड़ी–कंगन वाले हाथों से कम्प्यूटर चला रही हैं। वे डाक्टर, इंजीनियर, लेखक–प्रोफेसर, वैज्ञानिक, पायलट तक बन रही हैं। वे मानवीय गरिमा की खोज में जुटी हुई हैं, पुरूष से प्रेम करती हैं पर अपनी बौद्धिकता को सिद्ध करने में लगी हैं।

आधी दुनिया की इन महिलाओं पर भूमंडलीकरण के प्रभाव की बात करते हैं तो इस का विशलेषण करते हुए एक स्त्री पर विशेष दबाव को देखा जा सकता है खासकर भारत जैसे विकासशील देशों की स्त्रियों को न केवल पितृसत्तात्मक सामाजिक अवरोधों का सामना करना पड़ रहा है, बल्कि वे पश्चिम के प्रौद्योगिकीय वर्चस्व का दबाव भी झेल रही है।

भूंडलीकरण के कारण स्त्रियों के लिए नौकरियों के अवसर तो बढ़े, लेकिन वेतन नहीं बढ़े। पगार के रूप में कुछ धन हाथ में तो आया पर उस पगार पर उनका अधिकार नहीं है। स्त्री के बाहरी कार्य क्षेत्र में सस्ते श्रम से राष्ट्रीय अर्थतंत्र एवं पारिवारिक अर्थव्यवस्था का स्तर तो सुधरा पर उसे अपने ही वेतन से पैसा जेबखर्च की तरह मिला। घर के श्रम की बात ही नहीं है वह तो बेगार है उसकी। सारा दिन घर–दफ्तर में खटने के बाद एक कप चाय भी तैयार नहीं मिलती ऊपर से टूटे बटन पर एक तमगा जरूर मिलता है करती क्या हो सारा दिन अरे तीन दिन से एक टूटा बटन नहीं टका तुमसे? घर तो घर दफ्तरों में भी निर्णय के सारे अधिकार पुरूषों के पास होते हैं। पुरूष अपने वर्चस्व को कायम रखना चाहता है।

भूंडलीकरण के विस्तार ने निश्चय ही दुनिया को सब की मुट्ठी में किया है। एक जबरदस्त संचार क्रांति ला दी है। विस्तार और विकास के दरवाजे खोल दिए हैं बावजूद इसके इस भूमंडलीकरण ने स्त्री के लिए खुले आकाश से ज्यादा एक बड़े

बाजार का ही विस्तार किया। उसे व्यक्ति स्वातंत्र्य एवं अधिकार के नाम पर विज्ञापनों से लेकर दुकानों तक वस्तु के रूप में ही इस्तेमाल किया है। उसे सुपर मॉडल से लेकर बार बाला तक, विश्वसुंदरी से लेकर ब्रह्माण्ड सुंदरी बनाकर चकाचौंध की दुनिया के शो–केस में गुड़िया बना रखा है। यह सब उसकी देह के इर्द–गिर्द रचा गया मायाजाल है जहाँ उसकी योग्यता उसकी बौद्धिकता नहीं है उसकी दैहिक सुंदरता है। भूमण्डलीकरण के इस प्रतियोगी युग में वह मानव बनने की प्रक्रिया से एक बार फिर वस्तु में बदल दी जाती है। चमक–दमक बिना इस ग्लैमरस औरत की इस दुनिया के साथ मजदूरी करती, खेतों में खपती, बोझा ढोती स्त्रियों का कोई मेल नहीं। दाल–रोटी, तन ढकने के वस्त्र के लिए बेहाल स्त्रियों की दुनिया भूमंडीकरण से प्रभावित नहीं है उसे ना भूमण्डलीकरण पता है ना मानव अधिकार। और एक तीसरी दुनिया उन औरतों की भी हैं जो धार्मिक रूढ़ियों, अंधविश्वासों, रीति–रिवाजों, परंपराओं, घर–परिवार, रिश्ते–नाश्ते, शर्म, हया और पर्दाप्रथा जैसी हजारों बेड़ियों से आज भी जकड़ी हुई है। सबसे बड़ी संख्या इसी मध्यमवर्गीय समाज की महिलाओं की है जो अपने हक अधिकारों को लेना तो दूर उनके बारे में सोच भी नहीं पाती क्योंकि वह औरत की महिमामंडित छवि में ढाल दी गई है – उसे वही करना होता है जो उससे अपेक्षित है। उसका अपनी देह पर अधिकार नहीं है। उसका अपने गर्भ में पल रही संतान पर अधिकार नहीं है। उसे अपनी पसंद का साथी चुनने का अधिकार नहीं है साथ ही उसे पसंद का कार्यक्षेत्र चुनने का अधिकार नहीं है।

इस स्त्री को अभी भी स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार, आर्थिक स्वतंत्रता, राजनैतिक स्वतंत्रता , दैहिक, मानसिक स्वतंत्रता, व्यक्तिबोध जैसे मूलाधिकारों के लिए लड़ना है। उसे थोपी हुई परंपराओं का ध्वस्त करना है। उसे अपनी रचनाधर्मिता, रचनात्मकता और रचना–प्रक्रिया तय करनी है। स्वयं को व्यक्ति के रूप में स्थापित करते हुए एक स्पेस चाहिए जो उसे उसके मानवाधिकार दे सके। वही मानव अधिकार जो, एक व्यक्ति की राष्ट्रीयता, उसके निवास, लिंग, जातीय मूल, रंग, धर्म या अन्य स्थिति पर ध्यान दिए बिना सभी मनुष्यों के लिए निहित अधिकार है।

भारत में मानवाधिकारों की रक्षा के लिए संसद और कार्यपालिका को देश में कानून का निर्माण और कार्यान्वयन सौंपा गया है जबकि न्यायपालिका इसके निष्पादन को सुरक्षित करती है। स्त्री और पुरूष को समाजरूपी गाड़ी के दो पहियों के समान माना जाता है। अतः समाज के विकास एवं निर्माण के लिए स्त्री–पुरूष की सहभागिता अनिवार्य है। विकास के साथ–साथ नैसर्गिक सिद्धान्त का पालन एवं पर्यावरण संतुलन के लिए नितांत आवश्यक है। जिसके लिए लैंगिक समानता के साथ–साथ महिलाओं

की जनसंख्या को पुरूषों के समान बनाये रखने के लिए महिलाओं के अस्तित्व से जुड़े अधिकारों को प्रोत्साहन और संरक्षण अवश्य देना होगा।

यद्यपि मानवाधिकार पुरूष, महिला दोनों वर्गों की दृष्टि से एक ही है, किन्तु महिलाओं के परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार का प्रश्न इसलिए अधिक विचारणीय हो जाता है कि पुरूष सत्तात्मक विश्व में लिंग भेद की परंपरा सदियों से चली आ रही हैं। वस्तुतः मानव जगत में यदि कोई सबसे प्राचीन असमानता अथवा विभाजक रेखा है, तो वह लिंग भेद ही है। जाति, धर्म, संप्रदाय रंग आदि सभी विभाजक तथा भेद भावनात्मक प्रक्रियाओं का जन्म इसके बाद ही हुआ है। लिंग भेद की अवधारणा ने मानव जीवन को दो ध्रुवों में बाँटकर स्त्री व पुरूष को परस्पर पूरक होने का अवसर न देकर स्त्री को पुरूष का अनुगामी घोषित किया है। महिला मानवाधिकार के दो स्तर का वर्णन किया गया है।

1. अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महिला मानवाधिकार : संयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना में कहा गया है कि''हम संयुक्त राष्ट्रों के लोग मूलभूत मानवाधिकारों में मानव की गरिमा और महत्व व मूल्य में तथा स्त्री, पुरूष के समान अधिकारों में आस्था व्यक्त करते हैं। साथ ही चार्टर में महिलाओं के समानता के अधिकारों की घोषणा की गई है। ''अनुच्छेद 16(1) के अनुसार वयस्क पुरूष व स्त्रियों को मूल, वंश, राष्ट्रीयता या धर्म के कारण किसी भी सीमा के बिना विवाह और कुटुम्ब स्थापित करने का अधिकार है। अनुच्छेद 23(2) के अंतर्गत बिना भेदभाव के समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार है। अनुच्छेद 26(1) के अनुसार सभी व्यक्तियों को शिक्षा पाने का अधिकार है। चाहे वह स्त्री हो या पुरूष। इस परम्परा में अभी तक विभिन्न विश्व महिला सम्मेलन आयोजित किये जा चुके हैं :–

प्रथम विश्व महिला सम्मेलन सन्1975 मैक्सिको : इस सम्मेलन में वर्ष 1975 से 1984 को महिला दशक के रूप में घोषित किया गया तथा पंचवर्षीय योजनायें बनायी गयीं जिनमें स्त्री शिक्षा लिंग भेदभाव मिटाना महिलाओं के लिए रोजगार के अवसर बढ़ाना, नीति निर्धारण में महिलाओं की भागीदारी, समान राजनैतिक, आर्थिक , सामाजिक अधिकार देने आदि पर बल दिया।

द्वितीय विश्व महिला सम्मेलन 1980 कोपेनहेगन : इस सम्मेलन में महिलाओं के लिए निम्न लक्ष्य निर्धारित किये गये :

- राजनीति व निर्णय प्रक्रिया में महिलाओं की कानूनी भागीदारी
- महिलाओं के लिए कार्यालय कक्ष आयोग बनाना

- सरकारी और गैर–सरकारी संगठन में सहयोग स्थापित करना
- सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए सभी को मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य संबंधी सेवाएं उपलब्ध कराना
- शिक्षा और प्रशिक्षण में सभी को समानता का दर्जा देना
- रोजगार के संदर्भ में समानता

तीसरा विश्व महिला सम्मेलन 1985 नैरोबी : इस सम्मेलन में विभिन्न देशों से प्राप्त की गई रिपोर्टों से ज्ञात हुआ कि महिला दशक में निश्चित किये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने में आंशिक सफलता प्राप्त हुई है। इस सम्मेलन में महिला विकास के लिए प्रगतिशील रणनीति तैयार की गई तथा प्रत्येक देश को अपनी विकासात्मक नीतियों के अनुसार अपनी प्राथमिकतायें तय करने का अधिकार दिया गया।

चौथा विश्व महिला सम्मेलन 1995 बीजिंग : इस सम्मेलन में सरकारी अधिकारों के अतिरिक्त गैर–सरकारी संगठनों ने भाग लिया। इसके निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये :

- महिलाओं को समर्थ बनाने के लिए योजनायें बनाना।
- प्रतिनिधि मण्डलों की प्रगतिशील उपलब्धियों का पुनरावलोकन करना।
- ऐसी कार्ययोजना की रूपरेखा बनाना जिससे प्रगतिशील नीतियों का क्रियान्वयन हो सके।
- इक्कीसवीं शताब्दी की वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक, सामाजिक आदि विकास संबंधी आवश्यकताओं का सामना करने के लिए साधन उपलब्ध कराना।
- ऐसी सामाजिक स्थिति का निर्माण करना जिसमें महिलाओं की प्रगति को प्रोत्साहन मिले।

नई दिल्ली सम्मेलन 1997 : उक्त सम्मेलनों के अतिरिक्त 1997 में 'वीमेन्स पॉलिटिकल वाच'' नामक गैर सरकारी संगठन ने संयुक्त राष्ट्र संघ और राष्ट्रीय महिला आयोग के सहयोग से विश्व सांसद सम्मेलन नई दिल्ली में आयोजित किया। इसका उद्देश्य महिलाओं की सत्ता में भागीदारी बढ़ाना था।

2. भारत में महिला मानवाधिकार : मानवाधिकारों विशेषकर महिलाओं के अधिकारों की प्राप्ति के क्षेत्र में भारत ने भी लंबे समय से संघर्ष किया है। सदियों से

भारत में सती प्रथा, पर्दा प्रथा, दहेज प्रथा, अधिकार विहीनता, रूढ़िवादिता समाज का अंग था। परंतु 19वीं शताब्दी में पश्चिमी शिक्षा के आगमन से संस्कृतियों में टकराव हुआ फलस्वरूप महिला अधिकारों की बात की जाने लगी। लोग परंपरागत ढांचे से बाहर निकलकर सोचने लगे। महिलाओं की शिक्षा को बढ़ावा दिया जाने लगा। 1917, 1926 और 1927 में क्रमशः भारतीय महिला संघ, भारतीय महिला परिषद व अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना हुई तथा स्वतंत्रता के बाद महिलाओं के विरूद्ध हिंसा के मुद्दों पर विचार किया गया। भारत में राष्ट्रीय स्तर पर मानवाधिकारों को लागू करने के लिए 1950 में संवैधानिक उपाय किये गये।

संवैधानिक उपाय : भारत में संविधान की प्रस्तावना में हम भारत के लोग शब्द से प्रारंभ है, जिसका अर्थ है –स्त्री और पुरुष को समानता का दर्जा दिया गया। संविधान का लक्ष्य नागरिकों को सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक न्याय विश्वास और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा बंधुता को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्र की एकता आश्वस्त करती है। भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के संदर्भ में महिलाओं के लिए महत्वपूर्ण प्रावधान किये गये हैं।

अनुच्छेद 15

- राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध किसी आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।
- कोई नागरिक केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग के आधार पर किसी भी निर्योग्यता दायित्व या शर्त के अधीन नहीं होता।
- अनुच्छेद का कोई भी प्रावधान राज्य को महिलाओं और बच्चों के लिए विशिष्ट प्रावधान बनाने से नहीं रोक सकता।

अनुच्छेद 16

- राज्य के अधीन किसी पद के संबंध में धर्म, वंश, जाति, लिंग के आधार पर कोई नागरिक अयोग्य नहीं होगा।

अनुच्छेद 21

- यह प्राण दैहिक स्वतंत्रता और संरक्षण के अधिकार की व्यवस्था करता है यह अधिकार स्त्री पुरुष को समान संरक्षण देता है।

अनुच्छेद 39

- पुरुष और स्त्री, नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त

करने का अधिकार है।

- पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो।
- पुरुष और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का दुरूपयोग न हो।
- अनुच्छेद द्वारा महिलाओं के लिए प्रसूतिकाल में राहत की व्यवस्था तथा काम के स्थान पर मानवीय सुविधा की व्यवस्था करेगा।

अनुच्छेद 43

- यह मजदूरों के लिए वेतन तथा अच्छे जीवन जीने की व्यवस्था करता है

अनुच्छेद 44

- राज्य भारत के समस्त क्षेत्र में नागरिकों के लिए समान दीवानी संहिता प्राप्त करने का प्रयास करेगा

अनुच्छेद 45

- प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरूद्ध है
- संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में महिलाओं के अधिकार सुनिश्चित किये गये

अनुच्छेद 325,326

- निर्वाचक नामावली में महिला और पुरुष को समान रूप से मत देने और चुने जाने का अधिकार देता है।
- भारत में महिला मानवाधिकारों को मूल अधिकारों के साथ जोड़ा गया है तथा महिलाओं के लिए विस्तृत अधिकारों की विवेचना की गई है तथा इस संदर्भ में संविधान में विभिन्न अधिनियमों को स्थान दिया गया है।

कानून में भी स्त्री को सुरक्षा प्रदान करने के लिए कुछ प्रावधान हैं जैसे :–

1. सती प्रथा निवारण अधिनियम 1987: इस अधिनियम के अंतर्गत सती कर्म करने के लिए कारावास और जुर्माना दोनों की सजा का प्रावधान है।
2. दहेज निवारण अधिनियम 1961(संशोधित 1986) : इसके अंतर्गत

दहेज लेने और देने के लिए दंड की व्यवस्था की गई है तथा दहेज मृत्यु पर 7 वर्ष से लेकर आजीवन कारावास का प्रावधान है।

3. अनैतिक व्यापार निवारण अधिनियम 1956(संशोधित 1986) : इसके अंतर्गत व्यवस्था है कि संदिग्ध या अपराधी महिला से पूछताछ, तलाशी एवं गिरफ्तारी केवल महिला पुलिस या महिला सामाजिक कार्यकर्ता द्वारा की जायेगी।

4. बाल विवाह अवरोध अधिनियम 1929(संशोधित 1976): इस अधिनियम में 1976 में संशोधन कर विवाह की आयु लड़के के लिए 21 वर्ष तथा लड़की के लिए 18 वर्ष की गई तथा अपराध को संज्ञेय बना दिया गया।

5. औषधियों द्वारा गर्भ गिराने से संबंधित अधिनियम 1971 : प्रारंभिक रूप से महिलाएं विशेषज्ञ के माध्यम से गर्भ गिरा सकती है, संबंधित कागजात गुप्त रखे जाएंगे।

6. स्त्री अशिष्ट रूपण (प्रतिबन्ध) अधिनियम 1986: इस अधिनियम के अंतर्गत किसी भी महिला को इस प्रकार चित्रित नहीं किया जायेगा जिससे उसकी सार्वजनिक नैतिकता को आघात पहुंचे। इस अधिनियम में फिल्म सेंसर बोर्ड के गठन का प्रावधान किया गया है जो ऐसी फिल्मों पर रोक लगायेगा जिनमें महिलाओं की मर्यादा भंग होती हो।

7. विशेष विवाह अधिनियम 1954 : इसमें महिलाओं को पैतृक संपत्ति में उत्तराधिकार प्रदान किया गया है। हिंदू विवाह अधिनियम, 1954 स्त्रियों को भरण पोषण और दाम्पत्तिक प्रदान करता है।

8. प्रसव पूर्व निदान तकनीकी अधिनियम 1954 इसमें गर्भावस्था में बालिका भ्रूण की पहचान कराने पर रोक लगाई गई है।

9. 73वाँ एवं 74वाँ संविधान संशोधन 1993: इस अधिनियम के द्वारा महिलाओं को त्रिस्तरीय पंचायतों में एक तिहाई आरक्षण प्रदान करने का प्रावधान है।

10. समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976: इसके अंतर्गत समान कार्य हेतु महिलाओं को भी पुरुषों के समान पारिश्रमिक देने का प्रावधान किया गया है।

भारत की महिलाओं को अनेकानेक कानूनी व्यवस्थाओं के द्वारा अनेक अधिकारों की सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने के साथ–साथ महिलाओं के लिए सरकार के द्वारा अनेक विकास कार्यक्रमों तथा कल्याणकारी योजनाओं का संचालन भी किया जा सके और देश के विकास में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित हो सके।

सन्दर्भ

1. मानव अधिकार : अन्तर्राष्ट्रीय प्रपत्रों का संकलन खण्ड –1
2. मानव अधिकार : अंतर्राष्ट्रीय प्रपत्रों का संकलन खण्ड –3
3. उपनिवेश में स्त्री : प्रभा खेतान
4. स्त्री मुक्ति : यथार्थ और यूटोपिया – वर्तमान सन्दर्भ अगस्त 2009
5. मैं औरत हूं मेरी कौन सुनेगा – स्वाति तिवारी
6. औरत अस्तित्व और अस्मिता – अरविन्द जैन
7. धर्मयुग
8. हमको दियो परदेश : मृणाल पाण्डे
9. नारी के मानवाधिकार – योगेश कुमार 'एडवोकेट'

* * * *

सामाजिक न्याय और मानव–अधिकार*

(पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, नागालैण्ड तथा अरूणाचल प्रदेश के विशेष संदर्भ में)

डॉ0 प्रतिभा

मनुष्य को 'सामाजिक प्राणी' के रूप में देखे जाने की पारम्परिक अवधारणा के पीछे मानवीय जीवन में सामाजिकता और परस्पर अन्योन्याश्रिता के महत्व का बड़ा योगदान है पशु–समाज के विपरीत मानवीय समाज के संचालन में जैविक प्रेरणाओं से कहीं अधिक भूमिका सामाजिक–सांस्कृतिक प्रेरणाओं की होती है। इसी कारण मानवीय न्याय की प्रकृति में सबल द्वारा निर्बल के उपभोग के स्थान पर सबल द्वारा निर्बल की रक्षा तथा सबल निर्बल की रक्षा का भाव निहित है। वर्तमान में कल्याणकारी राज्य, सुरक्षात्मक प्रावधान तथा मानव – अधिकार जैसी अवधारणाएं न्याय की इसी प्रकृति से उपजी हैं। भारतीय परम्परा में न्याय की संरक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया है। स्वतंत्र भारत में नयाय को संविधान द्वारा संस्थापित एवं संरक्षित किया गया है।

समाजिक न्याय को मानव के समग्र एवं प्रत्येक सामाजिक संदर्भ तथा व्यक्ति और समाज की प्रत्येक पारस्परिकता को न्यायपूर्ण बनाने के तंत्र के रूप में परिभाषित किया जाता है। 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र द्वारा 'मानवाधिकार घोषणा' से प्रारम्भ होकर सामाजिक न्याय आज प्रत्येक राष्ट्र में लोकतंत्र तथा कल्याणकारी विकास का प्रतीक बन गया है। जहां तक सामाजिक न्याय के निर्धारक मूलभूत तत्वों का प्रश्न है तो स्वतंत्रता और समानता का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है।

व्यक्ति को अस्तित्व रक्षा से विकास की ओर ले जाने वाली स्वतंत्रता मात्र विचार, वाक् विश्वास की स्वतंत्रता न होकर प्रत्येक प्रकार के शोषण तथा अन्याय से भी स्वतंत्रता है। इसी प्रकार समानता के व्यापक अर्थ में अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में दूसरे के लक्ष्यों को भी समाहित किया जाना सम्मिलित है। इस प्रकार सामाजिक न्याय का यह भी अर्थ है कि समाज के सभी व्यक्तियों को अपने जीवन अस्तित्व को बनाए रखने

---

*गुवाहाटी (असम) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

तथा व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास हेतु अवसर की समानता हो। जीवित रहने की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के अवसर जुटाने के साथ ही मनुष्य के विकास के पर्याप्त अवसर जुटाना भी सामाजिक न्याय का तकाजा हैं, क्योंकि विकास के अभाव में जीवित रहने का कोई अर्थ नहीं है। इसी कारण कमजोर वर्गों के लिए सुरक्षात्मक प्रावधान भी सामाजिक न्याय के ही दायरे में आते हैं।

तात्पर्य यह है कि सामाजिक न्याय के लिए स्वतंत्रता तथा समानता दोनों ही अत्यंत आवश्यक हैं। जहां स्वतंत्रता व्यक्ति की अन्तर्निहित शक्तियों के विकास के लिए आवश्यक है, वहीं समानता के अभाव में समाज में कुछ व्यक्ति तो वर्चस्व कायम कर लेते हैं, और शेष बहुत पीछे रह जाते हैं और यह स्थिति व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अत्यंत घातक होती हैं। इस प्रकार सामाजिक न्याय के विचार ने आधुनिक युग के व्यक्ति की स्वतंत्रता व समानता के विविध प्रावधानों के साथ वर्ण, लिंग जन्मजात भेदभाव की समाप्ति तथा शोषण व बेगार से मुक्ति पर जोर दिया हैं।

सामाजिक न्याय और मानव–अधिकार

परमपिता द्वारा सभी को समान रूप से प्रदान किए गए मानवमात्र के मूलभूत अथवा स्वाभाविक अधिकार अर्थात् मानव अधिकार में वैयक्तिक पक्ष का महत्व अधिक है। इन अधिकारों के माध्यम से समूह के अतिक्रमण से व्यक्ति की रक्षा होती है और व्यक्ति को अपने विकास हेतु उपयुक्त अवसर व स्वतंत्रता प्राप्त होती है। जबकि सामाजिक न्याय की धारणा में वैयक्तिक पक्ष की तुलना में सामूहिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता– और सामाजिक न्याय की अवहेलना की दशा में मानव अधिकारों को सीमित भी कर दिया जाता है।

इस प्रकार सामाजिक न्याय की प्राप्ति में मानव अधिकार जरूरी हैं, किंतु यदि कोई व्यक्ति अपने अस्तित्व अर्थात जीवन के लिए संघर्ष कर रहा है तो स्वतंत्रता, समानता और शोषण के विरूद्ध अधिकार से उसे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि जीवन की रक्षा तथा भरण–पोषण के लिए वह दूसरों के हाथों स्वयं को शोषित होने देने को मजबूर होगा। अतः मानव के अस्तित्व एवं विकास के लिए इन दोनों के मध्य सार्थक तादात्म्य अनिवार्य है।

पूर्वी और पूर्वोत्तर भारत से सम्बद्ध पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, नगालैंड तथा अरूणाचल प्रदेश आदि राज्यों के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक न्याय की व्याख्या के प्रसंग में यह कथन आवश्यक हो जाता है कि पूर्वी भारत तो मूख्य भूभाग से संपृक्त है, किंतु देश के सुदूर पूर्व में उत्तर की ओर स्थित पूर्वोत्तर प्रदेश भौगोलिक अलगाव, दुरूहता, दुष्कर

संपर्क तथा प्रचारात्मक अभाव के कारण अभी भी देश के मुख्य भू–भाग में लगभग अपरिचित है। वहां प्रायः मात्र असम को ही पूरे पूर्वोतर के पर्याय के रूप में जाना जाता है। वर्तमान में उग्रवाद, प्रशासनिक उदासीनता और गतिहीनता से त्रस्त यह क्षेत्र अपने विकास का पर्याय बनने का इच्छुक है।

इन प्रदेशों की सामाजिक न्याय से जुड़ी समस्याएं अथवा चुनौतियाँ राष्ट्रीय चुनौतियों से बहुत भिन्न नहीं हैं, तथापि स्थानीयता से उपजी कतिपय विशिष्ट चुनौतियों के विषय में बात करना आवश्यक हो जाता है। इनमें कुछ निम्नवत हैः–

गरीबी और भुखमरी :–

मानवीय गरिमा और आत्म सम्मान की घातक होने के कारण गरीबी मानव–अधिकारों के हनन् का सबसे बड़ा कारण है। जहाँ भूख है, वहाँ शान्ति तो हो ही नहीं सकती। अतः गरीबी को खत्म कर मूलभूत सुविधाएं मुहैया कराये बिना मानव–अधिकार के लिए लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट के अनुसार भारत सहित सभी विकासशील देशों में जनसंख्या का 1/5 भाग रात को भूखा सोता है, 1/4 को पीने के पानी सहित मूलभूत सुविधाएं उपलब्ध नहीं हैं तथा कुल जनसंख्या का 1/3 भीषण गरीबी का जीवन जी रहे हैं। इंडिया टुडे (26.सितंबर.2007) की एक रिपोर्ट के अनुसार 1 अरब से अधिक की भारतीय जनसंख्या में से 30.1 करोड़ गरीबी रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रहे हैं। पूर्वोत्तर राज्य भी इसके अपवाद नहीं हैं। दशकों से इन राज्यों में अर्थिक विकास दरमंद रही है, जिससे बेरोजगारी बढ़ी मानवीय शक्ति की बरबादी हुई और उग्रवादी समूहों में भर्तियाँ बढ़ी। पश्चिम बंगाल का नंदीग्राम मामला हो, अथवा उड़ीसा के गाँवों में भूख से त्रस्त किसानों द्वारा आत्महत्या के मामले, हमें यह सोचने के लिए विवश होना पड़ा है कि नई सामाजिक व्यवस्था निर्मित किए बिना भारत की बहुसंख्यक जनता के लिए मौलिक अधिकारों का कोई अर्थ ही नहीं है।

स्त्रियों, बच्चों तथा कमजोर वर्गों से सम्बद्ध चुनौतियाँ स्त्री लिंगभेद :–

विविध कानूनों, संविधान संशोधनों, उच्चतम न्यायालय के दिशा– निर्देशक निर्णयों, पंचवर्षीय योजनाओं तथा विविध सम्मेलनों के द्वारा स्त्री उत्थान के प्रयास हो रहे हैं, तथापि भ्रूणहत्या, पोषण, शिक्षा और नौकरी में भेदभाव तथा सामान्य शोषण से अनवरत भेदभावों की श्रृंखला भी जारी है।

दैहिक शोषण के अवैध व्यापार के लिए आंध्र और कर्नाटक के बाद पश्चिम बंगाल भारत का सबसे बड़ा केंद्र बन चुका है। और वहाँ की राजधानी कोलकाता इस व्यापार का स्वर्ग, जहाँ 700 रू0 से एक लाख रू0 के बीच बिकती बच्चियाँ दिखाई दे जाती है। इसी प्रकार पूर्वोत्तर में असम में प्रतिवर्ष स्त्रियाँ तथा 200 बच्चियाँ दैहिक शोषण की इस आग में भस्म हो जाती हैं।

घरेलू और बाहरी मोर्चों पर एक समान सक्रिय स्त्रियों के बाहुल्य से नगालैंड और अरूणाचल प्रदेश के विषय में प्रायः यह धारणा है कि यहाँ स्त्रियाँ पर्याप्त बेहतर स्थिति में हैं। यह धारणा कुछ हद तक दहेज तथा दुल्हन दाह के न होने सही भी प्रतीत होती है, परंतु नेशनल कमीशन फॉर वीमैन द्वारा किए गए अध्ययन के अनुसार यहाँ महिलाओं, विशेष रूप से घरेलू महिलाओं के विरूद्ध हिंसा में तेजी से वृद्धि हो रही है।

बाल श्रम :–

इसी प्रकार हमारे समाज के सबसे कमजोर, संवेदनशील, नाजुक और बेआवाज सदस्य बच्चों के प्रति बरती जा रही उदासीनता पर्याय चिन्तनीय है। उनके पोषण और स्वास्थ्य की शोचनीय दशा, शारीरिक– मानसिक शोषण तथा सबसे बढ़कर बाल–मजदूरी की कड़वी हकीकत। पूरे भारत में अंधेरे सीलन भरे कमरों में अस्वाथ्यकर परिस्थितियों में आधे पेट भोजन तथा अपर्याप्त कपड़ों में 20.20 घंटे काम करते करीब 15 करोड़ बच्चे दासता की जंजीरों में जकड़े है।

पश्चिम बंगाल में 5–14 साल की वय के 11: बच्चे बालश्रम के शिकंजे में हैं। राज्य स्तर पर कुल श्रम का 31: बच्चों के द्वारा किया जाता है जो राष्ट्रीय औसत (2.6%) से अधिक है। यहां बड़ी संख्या में छोटे बच्चे ईंट उद्योग, बीड़ी उद्योग तथा कृषि –कार्यों के अतिरिक्त कार्यालयों और दुकानों में भी श्रम रत हैं। यहां तक कि सफाई और कूड़ा उठाने जैसे कार्य भी इन बच्चों के जिम्मे है। चिन्तनीय तथ्य यह है कि ये बच्चे लैगिंक शोषण के भी आसान शिकार हो रहे हैं।

इस संदर्भ में चुनौतियां मात्र बाल–श्रम को रोकने, प्रतिबंधित करने, तथा पुनर्वास की ही नही है; अपितु कानूनी पहल के साथ–साथ सामाजिक जागृति पैदा करने की भी है।

स्वास्थ्य (एड्स) :–

स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता, विशेषतः गरीब–पीड़ित वर्गों को उनके

मानव–अधिकारों से वंचित करती है। इस क्षेत्र में एड्स सबसे बड़ी चुनौती के रूप में उभरा है। नगालैण्ड में एड्स रोगियों की संख्या में तेजी से बढ़ोतरी दर और एड्स रोग से जुड़ी सबसे बड़ी चुनौती है कि यह रोग संक्रमित समूहों से आम जनता –विशेषकर ग्राम्य जनता में फैल रहा है। दूसरे एड्स से जुड़े चारित्रिक कलंक अथवा सामाजिक बाहिष्कार ने एड्स रोगियों के अधिकारों के हनन में मुख्य भूमिका निभायी है।

आतंकवादः–

वैसे तो आतंकवाद पूरे विश्व के लिए चुनौती है, परंतु दशकों से इसकी विभीषिका झेल रहे भारत से बेहतर यह बात कौन जान सकता है कि आंतकवाद से सीधी चोट मानव अधिकार की मूल भावना को ही लगती है, और इसका सबसे अधिक प्रभाव निर्दोषों पर पड़ता है।

पूर्वोत्तर से स्वतंत्रता के पश्चात् ही अलगाववादी आन्दोलनों की शुरूआत हो गयी। पहले नगा लोगों ने आजाद होने की घोषणा की, फिर 60 के दशक में मिजो आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। त्रिपुरा और असम में भी आन्दोलनों ने जोर पकड़ लिया। वर्तमान में अरूणाचल प्रदेश के तीन जिले चारों तरफ, चांगलाग तथा लोहित आंतकवादी गतिविधियों से त्रस्त हैं। नगालैंड में एन.एस.सी.एम. के दो धड़ों (जी.एम) तथा (के.) के मध्य आपसी प्रतिद्वन्द्विता में भी जनता सैंडविच बनी है।

ये आन्दोलन मूल रूप से अभावों से उपजे थे। दशकों से अर्थिक विकास की मंद गति और बढ़ती बेरोजगारी से नष्ट मानव–शक्ति ने अलगाववादी समूहों में राह खोजी। आगे चलकर ये आन्दोलन बांग्लादेश से अवैध आगमन के विरोध और स्थानीय मूल–निवासियों के अधिकारों की रक्षा की मांग में बदल गए।

निस्संदेह सामाजिक न्याय तथा मानव अधिकारों का आदर करने वाला व्यक्ति आंतकवाद का पोषण कर ही नहीं सकता। और एक निर्दोष नागरिक के मानव अधिकारों का हनन् करने वाले आतंकवादी को सजा तो मिलनी ही चाहिए, पर एक मानव होने के नाते उसके भी मानव अधिकार हैं, जिनका हनन् कानून व न्याय की परिधि में ही हो, एक आनुपातिक संतुलन लिए हुए हो, यह ध्यान रखना भी अत्यावश्यक है।

हम आए दिन फर्जी मुठभेड़, हिरासत में यातना, हिरासत में मौत और अवैध हिरासत की बातें सुनते हैं। निस्संदेह इससे मानवता की अंतरात्मा पर चोट लगती है और पुलिस तथा सुरक्षा– बलों द्वारा स्वमूल्यांकन से इसका हल निकल सकता है।

सर्वोच्च न्यायालय का कथन डी.के.बसु केस में

''हिरासत में यातना मानव की गरिमा पर क्रूरतम हमला है और जब कभी मानव की गरिमा घायल एवं विखंडित होती है, तब सभ्यता एक कदम पीछे चली जाती है, और ऐसे हर वक्त पर मानवता का ध्वज आधा झुक जाना चाहिए।''

आप्रवासन (घुसपैठ)

अरूणाचल तथा नगालैंड की एक बड़ी समस्या बांग्लादेश के संदिग्ध नागरिकों की अवैध घुसपैठ भी है। अरूणाचल में ये घुसपैठिये असम से होते हुए आंतरिक रेखा पार कर बस गए हैं। इसी प्रकार नगालैंड भी अवैध बांग्लादेशी आप्रवासियों के निशाने पर हैं, जो मणिपुर तथा असम में के सीमावर्ती इलाकों से छिप–छिप कर नगालैंड असम में प्रवेश करते रहे हैं।

आप्रवासन से यहाँ के मूल निवासियों का सामजिक और अर्थिक जीवन प्रभावित हो रहा है। विशेषतः विद्यार्थियों और युवाओं को यह सामजिक तनाव उग्रवादी समूहों में भरती होने को प्रेरित कर रहा है।

धर्मान्तरण :–

पिछली एक सदी में पूर्वोत्तर के धार्मिक परिदृश्य में असाधारण परिवर्तन देखने को मिला है। धर्मान्तरण की एक तीव्र गति ईसाइयत की ओर हुई। कुछ राज्यों में तो पूरी की पूरी जनसंख्या का ही धर्मान्तरण हो गया।

आकड़ों की दृष्टि से देखें तो नगालैण्ड में 1901 में ईसाई जनसंख्या यदि 0.59% थी तो वह 1951 में बढ़कर 46.05 और 1991 में 87.47% हो गयी। क्षेत्र में कमोबेश सभी राज्यों में धर्मान्तरण की यही तस्वीर है।

निश्चित रूप से प्रत्येक व्यक्ति के धार्मिक अधिकार हैं, जिनके अनुसार वह किसी भी धर्म को मानने के लिए स्वतंत्र है, परंतु भूखी जनता को रोटी का टुकड़ा डालकर, अनपढ़ को शिक्षा को हथियार के रूप में इस्तेमाल कर सांस्कृतिक दोहन का औचित्य कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता तथा स्थानीय जनजातियों की लोक संस्कृति को भ्रष्ट रूप में प्रस्तुत करके धर्म–परिवर्तन किया जाना निस्संदेह समस्या अथवा चुनौती के रूप में लिया जाना चाहिए।

अब हमारे और आपके लिए प्रश्न यह कि इन चुनौतियों का हल क्या हो ? सबसे महत्त्वपूर्ण हल भारतीयता अैर भारतीय संस्कृति से ही निकलकर आता है, कि

प्रत्येक व्यक्ति अधिकारों के साथ–साथ कर्त्तव्यों के प्रति भी सजग हो तो प्रत्येक व्यक्ति जब परिवार और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करेगा, तो परिवार और समाज उसके अधिकारों की रक्षा का दायित्व निभाएंगे, और इस स्थिति में अधिकारों के हनन् की स्थिति ही उत्पन्न नहीं होगा। हमें जो चाहिए– दूसरों को भी देने को तैयार–समान्तर, स्वतंत्रता गीता कहती है :–

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति यो अर्जुन
सुखं वा यदि वा दुखं स योगी परमोमतः

तो वहीं महाभारत कहता है :–

जो स्वयं जीवित रहना चाहता है, वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है ? अपने लिए जो–जो सुविधा मनुष्य चाहता है, वही दूसरों को भी सुलभ कराने की बात हमें सोचनी चाहिए। दूसरे व्यष्टि के साथ–साथ समष्टि।

अर्थात् मानव अधिकार के साथ–साथ सामाजिक न्याय का भी ध्यान रखा जाए तो स्थितियां स्वयमेव सहज और सरल हो सकेगी, संदेह नही।

———————————————————

1. इंडिया टुडे (अंग्रेजी) सितंबर 24, 2007।
2. इंडिया टुडे (हिंदी) 26 सितंबर 2007 ।
3. सामाजिक न्याय एवं दलित संघर्ष डां0 रामगोपाल सिंह राज. हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर।
4. सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय डॉ0 रामगोपाल चतुर्वेदी अनुसंधान व विशद अध्ययन संस्थान जयपुर।
5. इन्टरनेट।

* * * *

सूचना का अधिकार एवं लोकतंत्र*

लक्ष्मी सिंह

सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 में दिनांक 12 अक्टुबर 2005 से क्रियान्वित हुआ। इस अधिनियम के कुछ प्रावधान अविलंब लागू किए गए जैसे जन अधिकारियों के उत्तरदायित्व (धारा 4 ;पद्धए जनसूचना पदाधिकारी एवं सहायक सूचना पदाधिकारी को अधिसूचित करना (धारा 5 ;पद्ध एवं 5 ;पपद्धए केन्द्रीय सूचना आयोग का गठन (धारा 12 एवं 13), राज्य सूचना आयोग का गठन (धारा 15 एवं 16), केंद्र सरकार द्वारा स्थापित गुप्तचर विभागों और सुरक्षा संगठनों को अधिनियम से छूट परंतु भ्रष्टाचार और मानव अधिकारों के अतिक्रमण के अभिकथनों से संबंधित सूचना को छूट नहीं (धारा 24), तथा अधिनियम के प्रावधानों को लागू करने के लिए नियम बनाने की शक्ति (धारा 27 एवं 28)। सूचना का अधिकार अधिनियम 2005 जम्मू एवं कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया है। सभी नागरिक स्वतंत्र होकर जानकारियाँ लेने हेतु संबंधित जन प्राधिकार को अथवा जन सूचना अधिकारी को आवेदन दे सकते हैं। इस कानून की व्यवस्था सभी नागरिकों को सूचना का अधिकार देने को लिए की गई है। यह अधिनियम 23 खंडों में है। खंड 8 के अनुसार इस कानून के कुछ अपवाद भी हैं जिनमें सूचना देने पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है। वे हैंः–

(1) भारत की सुरक्षा एवं समग्रता के विषय में।

(2) संसद के स्वाधिकार/राज्य विधान सभा।

(3) विदेशी सरकारों द्वारा प्राप्त गुप्त जानकारियाँ।

(4) व्यापार एवं वाणिज्य से संबंधित रहस्य।

(5) वह जानकारियाँ जिससे किसी के व्यक्तिगत पहलू पर बिना अधिकारों के आक्रमण हो सके।

---

*दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

(6) ऐसी जानकारी जो जांच में अवरोध पैदा करें।

(7) ऐसी जानकारी जो न्यायालय प्रकाशित करने से मना करें।

(8) न्यासधारी संबंध के उपयोग के बारे में सूचना।

(9) कैबिनेट दस्तावेज इत्यादि।

इस अधिनियम के मुताबिक वह जानकारी जो किसी भी अभिलेख, स्मार पत्र, ई–मेल, सुझाव पत्र, परामर्श पत्र, प्रेस विज्ञाप्ति, परिपत्र, आदेश लॉगबुक, कॉन्ट्रेक्ट, प्रतिवेदन, कागजात, नमूने, मॉडलस, किसी भी इलेक्ट्रॉनिक फॉर्म में दर्ज आँकड़े तथा किसी भी निजी संस्थान से संबंधित सूचना जो कि किसी भी जन प्राधिकार द्वारा प्राप्त किया जा सकता है (मात्र संचिका टिप्पणी को छोड़कर), सूचना अधिकार अधिनियम के तहत सूचना कहलायेगा।

सूचना अधिकार के अंतर्गत आवेदक को किसी भी कार्य, दस्तावेज, अभिलेख का निरीक्षण करने, किसी भी दस्तावेज अथवा अभिलेख का अधिकृत प्रति अथवा उद्धरण अथवा टिप्पणी लेने, किसी भी सामान का अधिकृत नमूना लेने एवं प्रिंट आउट, डिस्क, फ्लॉपी, टेप, विडियों कैसेट एवं अन्य इलेक्ट्रॉनिक यंत्र से सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। नागरिक स्वयं सरकारी संगठनों के काम–काज तथा कार्य–प्रणाली पर नजर रख सकते हैं। वे देख सकते हैं कि ये संगठन निर्धारित नियमों के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। प्रश्नों के मिले जवाबों के विरूद्ध आवश्यकतानुसार नागरिक न्यायिक अपील कर सकते हैं। इस अधिनियम का दायरा वृहत है।

कोई भी व्यक्ति हिंदी या अंग्रेजी में अथवा क्षेत्र विशेष के शासकीय भाषा में किसी भी विषय पर सूचना प्राप्त करने हेतु जन सूचना पदाधिकारी को आवेदन दे सकता है। इस आवेदन में कारण देने की आवश्यकता नहीं है। अगर वह व्यक्ति गरीबी रेखा के नीचे के नहीं हो, तो उन्हें तय किए गए शुल्क अदा करनी होगी। शुल्क सामान्यतः दस रूपये तय किया गया है। इसके अलावे, कागजातों अथवा डिस्क/टेप/फ्लॉपी इत्यादि के लिए अतिरिक्त शुल्क तय किए गए हैं जो विभिन्न राज्यों में दस रूपये से लेकर सौ रूपये प्रति प्रार्थना हो सकते हैं। यह एक बहुत ही सस्ता उपाय है जो आम जनता के लिए महत्वपूर्ण राहत है।

सूचना पाने के लिए 30 दिन का समय दिया गया है जो कि आवेदन की तिथि से गिना जाएगा। यदि सूचना किसी व्यक्ति के जीवन एवं आजादी से संबंधित हो तो 48 घंटों के अंदर मिलनी चाहिए। अगर किसी ने सहायक जन सूचना पदाधिकारी के

यहाँ आवेदन दिया हो तो 5 दिनों का समय और जोड़ लेना होगा। अगर सूचना से संबधित किसी तृतीय पक्ष को अभ्यावेदन देने हेतु मौका देना हो तो उसके लिए कुछ समय सीमा 40 दिन तय किया गया है। अगर समय सीमा के अंदर मांगी गई सूचना उपलब्ध नहीं करायी गयी तो यह समझा जाएगा कि जन सूचना पदाधिकारी ने सूचना देनेसे मना कर दिया है। तत्पश्चात अपीलीय प्राधिकार इसे बहुत गम्भीरता से लेते हैं। प्रथम अपील सुनने वाला संगठन के ही अधिकारी होते हैं। द्वितीय अपील केन्द्रीय अपील केन्द्रीय या राजकीय सूचना आयोग के पास दायर की जा सकती है।

इस अधिनियम की शुरूआत में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक जन प्राधिकार के कार्यप्रणाली में पारदर्शिता लाने के लिए उत्तरदायी बनाने हेतु यह जरूरी है कि नागरिकों को इस प्राधिकारों के बारे में सभी सूचनाएं उपलब्ध हो। लोकतंत्र के सही संचालन में केंद्र सरकार एवं राज्य सरकार के जन प्राधिकारों का ठीक से संचालन होना, लोकहितार्थ कार्य करना, पारदर्शिता बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे संविधान के अनुच्छेद 19 (1) ए में यह बात पहले से ही सन्निहित है कि प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि उन्हें जन प्राधिकारों के कार्यों के बारे में सही जानकारी मिले। माननीय उच्चतम न्यायालय ने कई मामलों में इसका जिक्र किया है। अनुच्छेद 16 (1) ए अपनी बात रखने एवं विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के बारे में प्रावधानित किया गया है। यह प्रावधान किसी भी व्यक्ति को सच्चाई का पता लगाने, किसी भी निर्णय में भागीदार बनने की शक्ति प्रदत्त करने में तथा स्थिरता एवं सामाजिक बदलाव में संतुलन बनाने में मदद करता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसलिए प्रावधानित किया गया है ताकि कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका नागरिकों को भ्रमित नहीं करें, सरकारी तंत्र अपने कार्यप्रणाली में पारदर्शिता बनाए रखे एवं नागरिक को जन प्राधिकारों के बारे में सभी सूचनाएं सुलभ हो सके।

लोकतंत्र का अर्थ हुआ वह शासन जो किसी देश के लोगों का हो, उन लोगों के द्वारा हो तथा उन लोगों के लिए हो। भारत में अवश्य ही लोकतंत्र है किंतु यहाँ की जनता ज्यादातर अनभिज्ञ हैं। उन्हें सरकारी कार्यालयों/पदाधिकारियों के कामकाज की विशेष जानकारी नहीं होती और न ही न्यायपालिका एवं विधायिका के बारे में पर्याप्त सूचना होती है। जो लोग जानकार हैं, उनकी संख्या बहुत कम है इसलिए लोकतंत्र कहलाने के बावजूद, भारत का लोकतंत्र मजबूत नहीं कहलाएगा। मानव अधिकारों के सार्वभौमिक उद्घोषणा (1948) एवं भारतीय संविधान के भाग 3 एवं भाग 4 में जीवन, आजादी, सम्मान, विकास तथा जीने की समुचित सुविधाओं को प्राप्त

करने के अधिकार दिये गये हैं। किंतु अगर ज्यादातर आबादी को सूचना ही नहीं हो तो लोकतंत्र मात्र मजाक बनकर रह जाती है। लोगों को मालूम है कि उन्हें वोट देने का अधिकार है, लेकिन उन्हें यह नहीं मालूम कि वे कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका के कार्यों के बारे में प्रश्न कर सकते हैं तथा सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

अगर सूचना अधिकार अधिनियम को सख्ती से लागू किया जाए तो बहुत हद तक इन तीन क्षेत्रों में फैले भ्रष्टाचार को दूर किया जा सकता है। आज हम सामाजिक अंकेक्षण की बात करते हैं– यह भी सूचना अधिकार से जुड़ा हुआ है क्योंकि जब सरकार द्वारा किए गए कार्यों का सामाजिक अंकेक्षण होता है तो तत्संबंधित दस्तावेजों एवं अभिलेखों से सूचना प्राप्त कर जन साधारण द्वारा संबंधित परियोजनाओं के लाभ हानि का आकलन किया जाता है। हाल में झारखंड में राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना (नरेगा) का सामाजिक अंकेक्षण किया गया। कहीं–कहीं पर्याप्त एवं सही सूचना नहीं उपलब्ध रहने पर हंगामा मच गया। किंतु सूचना अधिकार अधिनियम के खौफ से बहुत कागजातों को सही ढंग से सही आंकड़ों के साथ प्रशासन को प्रस्तुत करना पड़ा।

किसी भी सफल लोकतंत्र के लिए यह उचित है कि उसके नागरिकों को विभिन्न परामर्श एवं मतों की सूचना मिले। यह तभी हो सकता है जब सूचना अधिकार अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक नागरिक को इनसे संबंधित सूचनाएं प्राप्त हो। विभिन्न परामर्शो; मतों, विचारों तथा विचारधाराओं से संबंधित सभी जानकारी प्राप्त करने पर नागरिकगण सही तरीके से उनसे संबंधित विषयों पर निर्णय ले सकेंगे। अपनी बात रखने एवं विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अधिकार में, जानने का अधिकार सन्निहित है। माननीय उच्चतम न्यायालय ने बार–बार कहा है कि बोली एवं विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता किसी भी लोकतंत्र के लिए बुनियादी आवश्यकता है जिसे लोकतंत्र से अलग नहीं किया जा सकता। इसमें सूचना का अधिकार सम्मिलित है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कुछ ही क्षेत्रों में सूचना देने या पाने पर पांबदी लगायाी गई है जो कि राष्ट्र के संप्रभुता एवं सत्यनिष्ठा, राष्ट्र के सुरक्षा, दूसरे देशों के साथ दोस्ताना संबंध, एवं नैतिकता से संबंधित हो। आम जनता की सूचना के लिए उन सभी संगठनों की सूची बनाई गई है जिनके कार्यप्रणाली के बारे में सूचना उपलब्ध नहीं करायी जा सकती है किंतु अगर उनमें भ्रष्टाचार के मामले हो, तो वह पांबदी लागू नहीं होगी। सूचना का अधिकार एक मौलिक अधिकार माना जा सकता है क्योंकि यह मौलिक अधिकार भारत के संविधान के अनुच्छेद 19 (i) ए से प्रवाहित होता है। इस अधिकार को एक मानव अधिकार भी माना गया है ताकि सरकारी कामकाज पारदर्शी

हो एवं उत्तरदायी हो। प्रशासन में नागरिकों की भागीदारी आवश्यक माना गया है।

सूचना अधिकार से सरकारी प्रशासनिक तंत्र में दक्षता लाई जा सकती है। इससे सरकारी कामकाज, प्रशासनिक दक्षता, नीति की दक्षता एवं सेवा की दक्षता अवश्य ही बढ़ेगी। इस अधिनियम के तहत अगर जन सूचना पदाधिकारी द्वारा कोई सूचना देने से मना किया जाता है, तो उसे उसका कारण बताना होगा। ऐसा प्रावधान इसलिए किया गया है, ताकि बेवजह किसी नागरिक के आवेदन को प्राधिकारों द्वारा खारिज नहीं किया जा सके। इस अधिनियम में अपील तथा द्वितीय अपील का प्रावधान किया गय है, और इसके अलावे, संविधान के अनुच्छेद 226 के तहत कोई भी नागरिक माननीय उच्च न्यायालय में मुकदमा दर्ज कर सकता है और अगर वह कोई मौलिक अधिकार हो, तो अनुच्छेद 32 के अंतर्गत वह माननीय उच्चतम न्यायालय तक भी जा सकता है।

सूचनाएं सटीक हो, प्रश्नों के सही उत्तर दिए जाएं तथा समय पर सूचना मिले, इससे प्रशासनिक कुशलता बहुत बढ़ जाती है। आम जनता के प्रति प्रशासनिक तंत्र का उत्तरदायित्व भी स्थापित हो जाता है और यह सुप्रशाासन के लिए महत्वपूर्ण बिंदू है। आज इलेक्ट्रॉनिकस का जमाना है इसलिए वेबसाईट का प्रावधान प्रत्येक आधिकारिक कार्यालय के लिए आवश्यक समझा जाता है। प्रत्येक आधिकारिक कार्यालय चाहे वह कार्यपालिका, न्यायपालिका अथवा विधायिका का हो, से संबंधित विस्तृत सूचना वेबसाईट पर दे देने से सूचना अधिकार अधिनियम का बहुत हद तक अपने आप पालन हो जाता है। ऐसा अगर प्रत्येक कार्यालय करे तो अलग से अधिनियम के अंतर्गत सूचना मांगने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इन वेबसाईटों को अद्यतन करते रहना होगा ताकि किसी वक्त किसी नागरिक को सही सूचना अपने आप मिल जाए। कम्प्युटर के जमाने में ऐसा करना बहुत ही आसान तरीका है और उचित भी है। जब से सूचना अधिकार अधिनियम लागू किया गया है, प्रत्येक आधिकारिक कार्यालय के दस्तावेजों को अद्यतन करने की आवश्यकता बढ़ गई है। अब वह समय गया जब पंजियाँ अथवा अभिलेख सालों साल तक अद्यतन नहीं किए जाते थे अथवा वित्तीय मामलों में अंकेक्षण आपत्तियों का निस्तार नहीं किया जाता था। सूचना अधिकार अधिनियम के तहत अब देश के तीनों क्षेत्रों–कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं विधायिका को सतर्क होना पड़ गया है। माननीय उच्च न्यायालय एवं उच्चतम न्यायालय ऐसे प्रश्नों से अछूते थे, लेकिन अब नहीं। भारत का लोकतंत्र जाग उठा है। आम नागरिक अपनी महत्ता को समझने लगा है। वह जान गया है कि यह लोकतंत्र उन्हीं का है, उन्हीं के द्वारा

कार्यान्वित होना है तथा उन्हीं के लिए है। इसलिए इस देश के आधिकारिक कार्यालयों में क्या हो रहा है, नागरिकों के पैसों का खर्च किस प्रकार हो रहा है, नियम कानून का कार्यान्वन कैसे हो रहा है इत्यादि की सटीक जानकारी प्राप्त करने का उन्हें अधिकार है। यह कानून आम नागरिकों को पर्याप्त अवसर दे रहा है ताकि वे इस लोकतंत्र के मजबूत भागीदार बनें।

चूंकि प्रावधान है कि एक समय सीमा के अंदर सही सूचना आवेदक को उपलब्ध करानी है, इसलिए अब यह नहीं कहा जा सकता कि दस्तावेज अथवा अभिलेख तैयार नहीं है जिसके चलते सूचना उपलब्ध नहीं कराई जा सकती। ऐसा करने पर जन सूचना प्राधिकार दंडित हो सकते हैं। जब सभी दस्तावेजों/अभिलेखों को मात्र एक अधिनियम के भय से अद्यतन करना जरूरी हो गया है, तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अधिनियम कितना महत्वपूर्ण है और आम जनता के लिए कितना लाभदायक भी। जहाँ पहले ऑफिशियल सिक्रेट्स एक्ट की दुहाई देकर कार्यालय द्वारा सूचना देने से इनकार किया जाता था, अब परिस्थिति बहुत बदल चुकी है।

सूचना अधिकार अधिनियम का सम्पूर्ण लाभ तब तक नहीं मिल सकता जब तक भारत की जनता अनपढ़ रहेगी। शिक्षा के अभाव में अधिकतर नागरिक देश के विभिन्न कानूनों को जान नहीं पाते तथा अपने अधिकारों से अनभिज्ञ रहते हैं। अतः युद्ध स्तर पर शिक्षा की सुविधा नागरिकों को उपलब्ध करानी होगी ताकि वे अज्ञानता की अंधकार से निकल पाएं।

यद्यपि सूचना अधिकार अधिनियम की धारा 8 में कुछ विषयों को अधिनियम के दायरे से बाहर रखा गया है, तथापि जरूरत है कि इन विषयों को और कम किया जाए। हाल में माननीय दिल्ली उच्च न्यायालय ने एक मामले में Institute of Chartered Accountants of India नामक संस्थान को निर्देश दिया है कि जो विद्यार्थी Chartered Accontants परीक्षा में अनुत्तीर्ण हुए हैं, वे अपनी उत्तर पुस्तिकाओं को देख सकते हैं ताकि उन्हें मालूम हो कि उन्होंने कहाँ–कहाँ गलतियाँ की। इसी आधार पर उक्त संस्थान को निदेशित किया गया है कि सूचना अधिकार अधिनियम के तहत विद्यार्थियों को उनकी उत्तर पुस्तिकाओं की प्रमाणित प्रतियाँ उनके अवलोकन हेतु उपलब्ध कराई जाए। माननीय दिल्ली उच्च न्यायालय ने कहा कि उत्तर पुस्तिका को सूचना अधिकाार अधिनिमय के दायरे के बाहर नहीं माना जा सकता – यह अधिनियम नागरिकों को वास्तविक शक्ति देती है जिसे प्राधिकारों द्वारा अवरूद्ध नहीं किया जा सकता।

मेरे विचार से केन्द्र सरकार को पहल करनी चाहिए कि अधिनियम की धारा 8 की सूची को और कम किया जाए। सिर्फ माननीय न्यायालयों के निर्देशों के उपरान्त कार्रवाई नहीं होनी चाहिए। लोकतंत्र को मजबूत करने की जिम्मेवारी मात्र न्यायपालिका की नहीं है – यह तो विधायिका एवं कार्यपालिका की भी है। उदाहरण स्वरूप– जब जब श्री सुभाष चंद्र बोस की रहस्यमय ढंग से गायब होने की जांच हुई, तब तब सुनने में आया कि भारत सरकार ने Official Secrets Act अथवा दूसरे देशों से संबंध बिगड़ने की दुहाई देकर महत्वपूर्ण दस्तावेज नहीं दिखाए। यह दुर्भाग्य है कि भारत के लोग जिस सपूत को श्रद्धा से नेताजी कह कर संबोधित करते हैं, उनसे संबंधित कागजात उपलब्ध होने के बावजूद जांच आयोग कों नहीं दिखाए जाते। अपने देश के सपूतों के बारे में जानकारी प्राप्त करने का अधिकार सभी नागरिकों को है इसलिए जब तक ऐसे विषयों पर परदा रहेगा तब तक सूचना अधिकार की अनदेखी होती रहेगी। एक स्वस्थ्य लोकतंत्र के लिए सूचना अधिकार अधिनियम को सच्चे, सकारात्मक भाव से लागू करना सरकार से अपेक्षित है।

सूचना अधिकार अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय एवं राज्य सूचना आयोगों के गठन पर भी समय–समय पर आलोचनाएं होती रहती है। जरूरत है कि इन आयोगों के अध्यक्ष एवं सदस्यों का चयन बिल्कुल निष्पक्ष एवं पारदर्शी हो। यह शायद तभी हो सकता है जब चयन समिति में माननीय उच्चतम एवं उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को शामिल किया जाए। अन्यथा आम जनता को हमेशा संदेह बना रहेगा कि पक्ष एवं प्रतिपक्ष के नेताओं के चहेतों का ही चयन किया गया।

सूचना अधिकार अधिनियम का दुरूपयोग न हो, इसका भी ख्याल रखना चाहिए। कई बार पाया जाता है कि दुर्भावना से प्रेरित होकर लोग सूचना मांगते हैं तथा उक्त सूचना को प्राप्त करने के उपरान्त भयादोहन करते हैं।

लेकिन जो सबसे तीव्र आलोचना है वह है विलम्ब का। लोगों का कहना है कि प्रक्रिया का पालन करने में बहुत समय लग जाता है तथा अंत में कहा जाता है कि उक्त सूचना नहीं दी जा सकती। नागरिकों को इतना सामर्थ्य नहीं होता कि वे धैर्य से लम्बी समय तक सूचना की प्रतीक्षा करें तथा एक अपीलीय प्राधिकार से दूसरी अपीलीय प्राधिकार तक पहुंचे। अतः इस अधिनियम को लागू करने की प्रक्रिया को और आसान बनाना चाहिए।

एक जीते जागते लोकतंत्र के लिए, और वह भी भारत जैसे विशाल लोकतंत्र के लिए, सूचना का अधिकार नागरिकों को प्राप्त होना सुप्रशासन का महत्पूर्ण कदम है।

लोकतंत्र में नागरिकों की भागीदारी मात्र वोट करने के लिए नहीं बल्कि देश के सर्वांगीण विकास के लिए भी आवश्यक है। प्रत्येक क्षेत्र में सूचना अधिकार अधिनियम, धीरे–धीरे ही सही, आम जनता में एक अद्‌भूत जागरूकता ला रही है। लोग अब निडर होकर सूचना मांग रहे है, अपने अधिकारों को जान रहे है औ अब कार्यपालिका, न्यायपालिका एवं गंभीरता से प्रश्न कर रहे हैं। कुछ खामियों के बावजूद यह अधिनियम नागरिकों को एक अद्‌भूत शक्ति दे रही है तथा लोकतंत्र को मजबूत कर रही है। जब तक इस अधिनियम का कड़ाई से पालन होता रहेगा, तब तक यहाँ लोकतंत्र भी जीवित रहेगा। अन्यथा तानाशाही पनपने लगेगी। भारत की सुरक्षा के लिए यह जरूरी है कि एक स्वस्थ्य लोकतंत्र बना रहे, यहाँ के नागरिक जागरूक हों, तथा सभी को उचित न्याय एवं विकास के अवसर मिले।

* * * *

द्वितीय खंड – मीडिया

हिंदी मीडिया और मानव अधिकार*

राकेशरेणु

भारत तीसरी दुनिया का संभवतः एकमात्र ऐसा देश हैं जहां पिछले पैंसठ सालों में संसदीय जनतांत्रिक व्यवस्था न केवल अक्षुण्ण है, बल्कि लगातार मजबूत होती जा रही है। और इस लोकतंत्र को मज़बूत बनाने में जितनी गहरी भूमिका वंचित और प्रायः उपेक्षित बहुसंख्यक आबादी की है उतनी शायद नागर समाज (सिविल सोसायटी) की नहीं। जनतंत्र में वह गहरी आस्था के जरिये सत्ता में अपनी भागदारी देखता है। इस तबके में आर्थिक सामाजिक और लैंगिक तीनों दृष्टियों से समाज के सबसे कमजोर वर्ग शामिल है। इसलिये, विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका के साथ–साथ मीडिया के रूप में जनतंत्र के विभिन्न प्रतिष्ठानों की यह जिम्मेदारी बन जाती है कि विकास और अधिकार संपन्न बनाने की किसी भी कोशिश में इन तबकों को वरीयता दें।

इस परिदृश्य में यह देखना रोचक होगा कि मानवाधिकारों के विचार के प्रसार, पोषण और संवर्धन में हिंदी मीडिया अपनी भूमिका का निर्वहन किस प्रकार कर रही है। मीडिया का मूल चरित्र ही मानवाधिकारों के पैरोकार का है। दुनियाभर में जनतांत्रिक सरकारों की उपस्थिति ने मीडिया को वह अपेक्षित जमीन उपलब्ध कराई है जो मानव अधिकारों के संरक्षण और संवर्धन की, उसकी पैरवी का आधार बन सके।

पश्चिमी मीडिया और सांस के लिये उनसे ऑक्सीजन उधार लेने वाले भारत के कुछ अंग्रेजी अखबारों–पत्रकारों के अरण्यरोदन के बावजूद उपलब्ध आंकड़े गवाह है कि हमारे देश में प्रिंट खासकर हिंदी और भारतीय भाषाओं के समाचार पत्र–पत्रिकाओं के साथ–साथ टेलीविजन सहित समस्त इलक्ट्रोनिक माध्यमों का तेजी से प्रसार हो रहा है। नेशनल रीडरशिप सर्वे, 2006 के अनुसार देश के दस सबसे अधिक प्रसार संख्या वाले समाचार पत्रों में एक भी समाचार पत्र अंग्रेजी का नहीं है। इनमें से

---

*इंदौर (मध्य प्रदेश) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

सर्वाधिक प्रसार वाले पहले दो समाचार पत्रों सहित पांच अखबार हिंदी के और पांच अन्य भारतीय भाषाओं के हैं। यही सर्वे हमें यह भी बताता है भारत के करीब 21 करोड़ घरों में से 8.9 करोड़ घरों में टेलीविजन सेट हैं और गांवों में करीब 58 प्रतिशत सालाना की गति से इलेक्ट्रोनिक मीडिया का, टीवी का प्रसार बढ़ रहा है। शिक्षा का प्रसार, जो हिंदी और भारतीय भाषाओं में अधिक हो रहा है, के साथ–साथ तकनीक का प्रसार और बहुसंख्यक आबादी के जीवनस्तर में सुधार मीडिया के प्रसार को त्वरा प्रदान कर रहे हैं।

ये सारी बातें मीडिया के प्रभाव क्षेत्र को, और अगर वे मानवाधिकारों के संवर्धन की दिशा में काम करें तो अधिकार चेतना को सशक्त करने वाली हैं। अपनी बात को हिंदी के इलेक्ट्रोनिक मीडिया तक सीमित करते हुए उल्लेख करना चाहूंगा कि बीते दो दशक में जब से भारत में निजी चैनलों ने काम करना शुरू किया, शुरू से ही उनका स्वामित्व व्यावसायिक घरानों के पास रहा। दरअसल, प्रिंट माध्यम की तुलना में टेलीविजन चैनल के लिये कई गुना अधिक पूंजी की जरूरत होती है। इतना बड़ा पूंजी निवेश करने वाले लोगों का उद्देश्य जाहिर है, समाज सेवा करना नहीं, उससे व्यावसायिक लाभ कमाना और अपने अन्य हित साधना ही रहा है। करीब डेढ़ दशक के निजी समाचार चैनलों के इतिहास में भी यही तत्व रेखाांकित किया जा सकता है। लेकिन पत्रकारिता, चाहे अखबार में की जाए या टेलीविजन में, सीधे–सीधे बाजार में साबुन की टिकिया बेचने जैसा उपक्रम नहीं हो सकती। सामाजिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा में, अधिकारों के संघर्ष में उसकी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इस भूमिका के ठीक–ठीक निर्वहन से व्यक्ति और समाज आज़ाद होते हैं, अधिकार संपन्न बनते हैं।

टेलीविजन पर प्रसारित हाल की कुछ खबरों पर निगाह डालें तो इस दिशा में कुछ निष्कर्षों तक पहुंचना आसान होगा। पिछले दिनों भोपाल के एक मुस्लिम युवक और हिंदु युवती ने प्रेम विवाह किया, किंतु इसके लिए उन्हें भागकर मुंबई जाना पड़ा ताकि कट्टरपंथियों की निगाह से बच सकें। अपनी जान–माल की रक्षा के लिये उन्हें मीडिया का सहारा लेना पड़ा। स्वेच्छा से विवाह करने का अधिकार हमें संविधान देता है। धर्म, जाति और वर्ग के आधार पर इसमें बाधा नहीं खड़ी की जा सकती। बावजूद इसके कुछ लोगों ने इस घटना की ऐसी व्याख्या की मानो हिंदुत्व के सामने घोर संकट आ खड़ा हो। समाचार चैनलों पर दिनभर अलग–अलग बाइट्स के साथ और अलग–अलग कोण से इसे दिखाया जाता रहा। इसका सकारात्मक परिणाम यह हुआ

कि नवविवाहित दंपति को दर्शकों की सहानुभूति और व्यवस्था का संरक्षण हासिल हुआ। जाति और धर्म से ऊपर उठकर जीवन साथी चुनने के नागरिकों के मौलिक अधिकार को ताकत मिली।

थोड़ा पीछे चले, तो गोधरा और गुजरात दंगों का जैसा शुरूआती कवरेज़ हिंदी समाचार चैनलों ने किया, उस पर काफी कुछ कहा और लिखा जा चुका है। और तो और, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग तथा सर्वोच्च न्यायालय ने भी उस पर आपत्ति जताई। लेकिन उसी गुजरात में सोहराबुद्दीन दंपत्ति की अमानवीय हत्या के प्रकरण में प्रायः सभी समाचार चैनलों ने वस्तुनिष्ठता बनाए रखी और अपनी दृष्टि को किंचित भी विपथ नहीं होने दिया। कहना न होगा कि जहां कहीं भी मीडिया ने वस्तुनिष्ठ होकर काम किया है, वहां मानवाधिकार और उनके सरोकार मजबूत हुए हैं।

लेकिन टेलीविजन चैनलों की जैसी प्रकृति है, वे अपने को दृश्य से अलग नहीं कर सकते। केवल वाचिक फीड उनके लिये पर्याप्त नहीं; उन्हें विजुअल फीड चाहिए, ढेर सारे चाहिए, बदल–बदल कर चाहिए। यह इस माध्यम की संरचनागत सीमा है। बावजूद इसके चुटकुलों, फिल्मी खबरों, रियलिटी शो और सेलिब्रिटी के चुंबन दृश्यों को समाचार बनाकर पेश करना इसकी मजबूरी क्यों है, ऐसा कौन चाहता है और इनसे किसका भला हो रहा है। यह समझना बहुत कठिन नहीं है।

हाल ही में कुछ दूसरी ऐसी घटनाएं भी घटीं जिनके महज बाइट्स दिखा देने और 'जैसा घटा वैसा' समाचार पेश कर देने भर से आगे उन पर गंभीर चर्चा की दरकार थी।

वड़ोदरा के एम एस विश्वविद्यालय में कला विभाग के छात्रों की कला प्रदर्शनी पर विद्यार्थी परिषद के हमले की खबर, प्रदर्शनी और छात्रों का पक्ष लेने वाले विभाग प्रमुख की बर्खास्तगी, और दूसरी तरफ, तमिल दैनिक 'दिनाकरन' द्वारा एक सर्वे के प्रकाशन पर हुई तोड़फोड़, जिसमें अखबार के तीन कर्मियों की जान–चली गई– ये दोनों खबरें ऐसी थीं जिनसे मानवाधिकारों के अनेक पहलू जुड़े हैं। अतः केवल समाचार बता देने या फुटेज दिखा देने से आगे इन पर चर्चा और विश्लेषण प्रसारित करने से अभिव्यक्ति के अधिकार, आजीविका के अधिकार और जीवन के अहरणीय अधिकारों की पैरवी होती। प्रायः सभी हिंदी चैनलों ने यह अवसर गंवा दिया।

ये कुछ बानगी भर हैं। अनेक ऐसे समाचार प्रसारित होते हैं जो या तो समाचार होते ही नहीं, या जिनपर ठहर कर विमर्श करना जरूरी होता है; लेकिन वह हो नहीं

पाता। ऐसा नहीं है कि हिंदी समाचार चैनल या समाचारकर्मी मानवाधिकारों के दायरे से या मानवाधिकार आंदोलनों से जुड़े लोगों और संगठनों से अवगत नहीं । वे अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक और आर्थिक व्यवस्था के मानवीय लक्ष्य मानवाधिकार ही निर्धारित करते हैं। इसलिये प्रत्येक सार्वजनिक अथवा सामाजिक घटना, शासनतंत्र का कोई भी निर्णय, नीति और कार्यक्रम मानवाधिकारों की कसौटी पर कसा जा सकता है। यह कसौटी ही उसकी वस्तुनिष्ठता का प्रमाण होती है। बावजूद इसके, समाचारों को सनसनीखेज़ बनाकर पेश करने से इतर उनपर ईमानदार चर्चा से बचने की क्या वजह हो सकती है ?

आरंभ में ही मैंने उल्लेख किया था कि आज का मीडिया स्वाधीनता आंदोलन के दौरे के उलट व्यावसायिक घरानों द्वारा नियंत्रित है। खासकर टेलीविजन चैनल के लिये बड़ी पूंजी की दरकार होती है जिस कारण इस क्षेत्र में किसी वैकल्पिक मीडिया की गुंजाइश भी बहुत कम है। बड़ी पूंजी और बड़े विज्ञापन आय से पोषित मीडिया अपने मालिकान और कॉरपोरेट विज्ञानपनदाताओं के हितों की अनदेखी हरगिज़ नहीं करेगी। इसलिये कॉरपोरेट घराने और विज्ञापनदाता यदि चाहते हैं कि रोज़गार का अधिकार और सूचना का अधिकार से जुड़ी खबरें और इन जन अधिकारों के लिये संघर्ष करने वाली शख्सियत अरूणा राय को या आदिवासी विस्थापितों के अधिकारों की लड़ाई लड़ने वाली मेधा पाटेकर को या पूर्वोत्तर में अर्धसैनिक बलों के दमन के विरूद्ध संघर्ष करने वाली इरोम शर्मिला को न दिखा, शिल्पा शेट्टी का चुंबन, मल्लिका सहरावत की अर्धनग्न तस्वीर तथा रैंप पर कैटवॉक करती मॉडलों के खुलते वस्त्र दिखाए जाए तो उनके सरोकारों का खुलासा स्वतः हो जाता है। यह प्रवृत्ति इस बात का द्योतक है कि व्यवसाय और पूंजी के दबाव में मीडिया, खासकर इलेक्ट्रानिक मीडिया, तेजी से अपने समाज और अधिकार उन्मुख सरोकार खोती जा रही है और उसकी सामाजिक संवेदना कुंद होती जा रही है। छिटपुट उदाहरण छोड़ दे ंतो यही इसकी केंद्रीय प्रवृत्ति है।

हिंदी मीडिया पर बात करते हुए अगर मीडिया में महिलाओं और दलितों की स्थिति और उपस्थिति पर बात न की जाए तो बात पूरी नहीं होगी। लेकिन, ये दोनों सवाल, स्त्रियों और दलितों के, मीडिया के अंदरूनी जनतंत्र से भी जुड़े हुए हैं। एक मिथ है कि पत्रकारिता में स्त्रियों की अच्छी हिस्सेदारी है, कि वहां लैंगिक भेदभाव नहीं है। लेकिन एक भी बात सच नहीं। सच्चाई यह है कि व्यवहार में स्त्रियां काम और वेतन, दोनों मामलों में भेदभाव का शिकार होती हैं।

इंटरनेशनल वूमंस मीडिया फाउंडेशन द्वारा 2001 में कराए गए एक अध्ययन के अनुसार, मीडिया में कार्यरत महिलाओं का हिस्सा विश्व में 41 प्रतिशत है। लेकिन यूनेस्को के 'ऐन अनफिनिश्ड स्टोरीः जेंडर पैटर्न इन मीडिया एंप्लॉयमेंट' शीर्षक रिपोर्ट के अनुसार एशिया में यह हिस्सा घट कर महज 21 प्रतिशत रह जाता है। भारत में यह हिस्सेदारी तब, यानि 2001में, 12 प्रतिशत थी। अभी पिछले साल के आखिर में सी. एस.डी.एस. और मीडिया स्टडी ग्रुप भारत के राष्ट्रीय मीडिया का एक सर्वे कर बताया गया कि यह हिस्सा अब बढ़कर 17 प्रतिशत हो गया है। इसमें भी सबसे अच्छी स्थिति अंग्रेजी इलक्ट्रोनिक मीडिया की है जहां 32 प्रतिशत महिलाएं हैं जबकि हिंदी मीडिया में उनकी उपस्थिति 17 प्रतिशत के औसत से भी काफी कम है। यह जानना भी रोचक होगा कि ये महिलाएं किन पदों पर काम करती हैं। सी.एस.डी.एस. का सर्वे बताता है कि मीडिया कंपनियों के शीर्ष व्यक्तियों का कुल तीन प्रतिशत ही महिलाएं है। इस पुरूष एकाधिकार के परिणाम छिपे नहीं है। तमाम ऊपरी सदाशयता के बावजूद मीडिया संस्थानों की प्रसारण नीति में व्याप्त पुरूषवादी दृष्टि खुलकर सामने आती रहती है। अखबारों में स्त्रियों की अर्धनग्न तस्वीरें छापने की स्पर्धा है, टेलीविजन चैनल उनसे चार कदम आगे हैं। मैं बहुत उदाहरण नहीं देना चाहता केवल यह कहूंगा कि दृश्यों और विषयों के इनके चयन से औरत को भोग की वस्तु समझने की परंपरागत और आधुनिक, दोनों किस्म की लंपट दृष्टियां मज़बूत होती हैं और बलात्कारों की, मानसिक पृष्ठभूमि तैयार होती है, न केवल तैयार होती है बल्कि बढ़ती जाती है।

बातें कहने को बहुत सारी हैं लेकिन अपनी बात मैं केवल यह करते हुए समाप्त करूँगा कि सही है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में मीडिया की भूमिका, उसका भौतिक आकार–प्रकार तेज़ी से बढ़ा है। लेकिन इससे उसे किसी तरह निष्पक्ष, तटस्थ, निर्विकार और मानव अधिकार के सरोकार से लैस नहीं कहा जा सकता। मीडिया का व्यापार और राजनीति बहुत घनिष्ठ रूप से आर्थिक कारोबार और राजनीतिक उठापटक से जुड़े हैं। जबकि जनतंत्र में मीडिया की भूमिका सार्थक तभी हो सकती है जब उसका स्वामित्व और प्रबंधन वास्तव में जनतांत्रिक, पारदर्शी और मानवाधिकारों का संवहन करने वाला हो।

* * * *

भारतीय जीवन पद्धति, परम्परा तथा मीडिया *

डॉ0 अमरनाथ 'अमर'

स्वामी विवेकानंद ने कहा था– ''मैं मंदिर में जाकर पूजा करूँगा, मस्जिद में जाकर नमाज पढ़ूँगा और घुटने टेकूँगा, गुरूद्वारा में जाकर शीश नवाऊँगा और गिरिजा घर में जाकर अर्चना करूँगा..... और मैं इतना ही नहीं करूँगा, भविष्य में जो नए धर्म आएँगे, उनके स्वागत के लिए भी तैयार रहूँगा।'' इन पंक्तियों में विश्व बंधुत्व, सद्भाव और मानवाधिकार की बात प्रकट होती है।

वस्तुतः भारतीय जीवन, परम्परा, जीवन शैली और संस्कृति में मानवाधिकार का पुट प्राचीन काल से रहा है, स्वामी विवकानंद ने उसी कड़ी को सम्यक दृष्टि प्रदान की। ''तमसो मा ज्योतिर्गमय, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, सत्यम–शिवम् सुंदरम के अर्थ भी इसी मानवाधिकार के प्रतीक हैं। दरअसल एक इंसान इंसान की तरह जी सके, उसके मौलिक अधिकार सुरक्षित रहें, आपस में सद्भाव और भाईचारा हो तो हम कहते हैं कि यहाँ मानवाधिकार अक्षुण्ण है। परिवार समाज और राष्ट्र में अपने अधिकारों की लड़ाई भी आरम्भ से होती रही है कई बार मानवाधिकार की रक्षा के लिए और कई बार इसके उल्लंघन के लिए। विश्व युद्धों की त्रासदी ने पूरे विश्व में मानवाधिकार आयोग के गठन की प्रेरणा दी। लेकिन भारत, मानवाधिकार के मामले में विश्व के अन्य देशों से काफी उदार रहा है। सहिष्णुता और सद्भाव इसकी प्रवृत्ति में आरम्भ से रहे हैं।

आज संविधान और कानून हमारे मानवाधिकार के रक्षक हैं, आयोग की आज के संदर्भ में अपनी विशिष्टता और प्रासंगिकता है। लेकिन आजादी से पूर्व भी जब राजतंत्र था और आक्रमणकारी शासन था, उसे छोड़ दे तब भी मानवाधिकार का पक्ष हमारी परम्परा में गहराई से रहा है। पूरे विश्व में पहला लोकतंत्र वैशाली (बिहार) में ही था। प्राचीन भारत का यह ऐतिहासिक पन्ना स्वर्णाक्षरों में अंकित है जहाँ मानवाधिकार का पक्ष बल था।

***पांडिचेरी में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

वस्तुतः भारतीय संस्कृति में मानवाधिकार पूरे अस्तित्व के साथ रहा हैं क्योंकि हमारी परम्परा ही ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की रही है। रामायण काल में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। श्रीराम ने शबरी के जूठे बेर खाए! (कारण कोई मजबूरी ? नहीं;) के रूप में एक पिछड़ी जाति को दिया गया प्रेम और सम्मान दरअसल राम ने जातपात, छुआछूत का भेद मिटाकर इंसानियत को महत्व दिया। तभी तो वो सरयू नदी पार करने के वक्त 'केवट' को गले लगाते हैं और उन्हें पूरा सम्मान देते हैं।

महाभारत काल में तो सम्पूर्ण गाथा ही मानवाधिकार पर आधारित है। मानवाधिकार की रक्षा ही सम्पूर्ण महाभारत का कारण बना। द्रोपदी का अपमान पूरे नारी समाज और मानवता का अपमान था। कौरवों ने तो राज्य के बदले पाँच गांव तक देने से मना कर दिया था। अधिकारों से किसी को वंचित कर देना भी तो मानवाधिकार का ही हनन है। वहाँ कृष्ण ने उसी मानवाधिकार की रक्षा की। आज भी भारतीय नारी को परिवार, समाज, धर्म, शास्त्र, साहित्य और कर्तव्य में ऊँचा स्थान मिला हुआ है। संविधान और कानून भी उसे पुरूष के समान अधिकार प्रदान करता है। वह पूजनीय है, उसमें काली की शक्ति है, सरस्वती का ज्ञान है, राधा का स्नेह है, सीता का संस्कार है, द्रोपदी का अभिमान है कल्पना चावला और लक्ष्मी बाई का गर्व है। उसके साथ सहित्य कला, संगीत और संस्कृति है, लोगों की नजरों में सम्मान है। लेकिन नारी के इस सम्मान पर जब जब कुठाराघात हुआ हैं मानवाधिकार आयोग उनकी रक्षा में आगे आया है। इसमें दो राय नहीं कि आज आधुनिकता जरूरी है पर वह मर्यादित हो। परिधान में परिवर्तन स्वाभाविक है लेकिन उसमें लज्जा का गुण हो। चाल में तेजी हो लेकिन चलन अनुशसित और संस्कारित हो। व्यवहार में कुशलता हो, ज्ञान में निपुणता हो, जीवन में स्वावलंबन हो, तभी भारतीय नारी की तस्वीर में उज्वलता बनी रह सकेगी। तभी मानवाधिकार भी अक्षुण्ण रह सकेगा।

इतिहास के पृष्ठों को पलट कर देखें तो स्पष्ट होता है कि चाणक्य ने मानवाधिकार की रक्षा के लिए नंदवंश का नाश किया। मानवाधिकार की रक्षा के लिए ही उन्होंने चन्द्रगुप्त को सामान्य से उठाकर अखण्ड भारत का सम्राट बनाया। ऐसी उत्कृष्ट परम्परा तो सिर्फ भारत में ही दिखाई पड़ती है।

तुलसी के रामचरित मानस का समय भारत में अकबर के शासन का काल था अकबर का ''दीन–ए–इलाही'' सभी धर्मों के मान–सम्मान का समन्वित आधार था। और जब सभी धर्म एक दूसरे का सम्मान करते हैं तब मानवता पुष्ट होती है; मानवाधिकार तब स्वतः अपना आधार पा लेता है।

इससे भी पूर्व लगभग साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व कबीर ने अंधविश्वास, धर्मांधता, छुआ–छूत, सामाजिक विद्रूपता और मानसिक पिछड़ेपन पर जम कर प्रहार किया। इसके पीछे भी मानवता और जन कल्याण की ही बात मुखरित होती है। कबीर ने संसार की चिंता की। उन्होने चेतना और जागृति की बात की। मानवाधिकार का उनसे बड़ा पुरोधा और कौन होगा ? कबीर के साथ–साथ रहीम, तुलसी, नानक, मीरा, बुद्ध, महावीर, गांधी सबने इसी मानवता की बात की। सभी धर्मों ने भी प्रेम भाईचारा और विश्वबंधुत्व की बात की है। सिक्खों के दसवें गुरू गोविंद सिंह ने ''गुरूग्रंथ साहब'' को गुरू की पदवी दी। मानवाधिकार का यह वह पक्ष था जहां जाति धर्म वर्ग से ऊपर उठकर समाज के हर तबके के लोगों और गुरूओं की वाणी को उन्होंने इस ग्रंथ में रखा। ग्रंथ को गुरू का मान देना, इंसानी जीवन में रोशनी को निमंत्रण देने जैसा है। ऐसी परम्पराएं हिंदुस्तान को विश्व में सांस्कृतिक विरासत वाले देश की पदवी प्रदान करता है। हिंदुस्तान में साधु–संतो, फकीरों, बाबाओं ने अपनी संत वाणी से इंसानी जीवन को मुख्य बनाने का प्रयास किया है। अनेकों मंदिरों मस्जिदों और मजारों पर सभी धर्म और वर्ग के लोग अपने कष्ट निवारण हेतु–नतमस्तक होते हैं। यह साझी विरासत मानवाधिकार की रक्षा करने में सहायक सिद्ध होती है। ईद में सेवइयों की मिठास, दीवाली पर दीपों की रोशनी, क्रिसमस में मोमबत्तियों से छनछन कर असंख्य किरणों की छटा, गुरू पर्व में सजीधजी रोशनी इंसानी जीवन में प्रेम, भाईचारा और सद्भाव का पैगाम देकर मानवाधिकार की पुष्टि करती है। ''अतिथि देवो भवः'' की परम्परा भी मानवाधिकार का आधार रही है। निश्चित ही आज भूमंडलीकरण और विश्वग्राम की परिकल्पना के बीच भी हम अन्य देशों की तुलना में कहीं ज्यादा मानवतावादी है। इंसान तो इंसान हमारे देश में तो प्रकृति, नदियों, घाटियों, झरनों, पहाड़ों, झीलों जानवरों और कीट–पतंगों तक की रक्षा की बात पुष्ट होती है प्रारंभ से ही भारतीय जनमानस मानवतावादी रहा है। यही परम्परा मानवाधिकारों की रक्षक है। यही परंपरा भविष्य को भी सुरक्षित और सार्थक बनाएगी, इसमें कोई शक नहीं। रेडियो और टेलीविजन भी मानवाधिकार का प्रबल सहचर हैं इसमें भी कोई दो राय नहीं।

* * * *

मीडिया, पंचायते और मानवाधिकार*

राकेशरेणु

लोकतंत्र की बुनियादी संकल्पना में ही इस तथ्य की स्वीकृति शामिल है कि निचले या आधार स्तर पर इस व्यवस्था में जन भागीदारी सर्वाधिक विस्तृत और व्यापक हो ताकि बुनियादी स्तर पर रहने वाले लोगों, गांवों के निवासियों को जनतांत्रिक व्यवस्था में सहभागिता हासिल हो, उन्हें व्यावहारिक अर्थों में अधिकार प्राप्त हों और अपने गांवों, पंचायतों के विकास के लिए वे अपने निर्णय स्वयं ले पाए। जब देश आजादी का गुरूतर दायित्व संभालने की तैयारी कर रहा था, उन्हीं दिनों 28 जुलाई, 1946 को महात्मा गांधी ने भावी हिंदुस्तान में जनतांत्रिक व्यवस्था की रूपरेखा खींचते हुए अपने अखबार 'हरिजन सेवक' में लिखा.... ''हरेक गांव में जम्हूरी सल्तनत या पंचायती व्यवस्था का राज होगा। इसके पास पूरी सत्ता और ताकत होगी। इसका मतलब है कि हरेक गांव को अपने पैरों पर खड़ा होना होगा। अपनी जरूरतें खुद पूरी करनी होगी ताकि वह अपना कारोबार खुद चला सके। यहां तक कि वह सारी दुनिया से अपनी रक्षा खुद कर सके। उसे तालीम देकर इस हद तक तैयार करना होगा कि वह बाहरी हमले के मुकाबले में अपनी रक्षा करते हुए मर–मिटने के लायक बन जाए। इस तरह हमारी बुनियाद आखिरी आदमी पर टिकी होगी।''

इन पंक्तियों के जरिए महात्मा गांधी ने आने वाले लोकतंत्र और निचले स्तर पर पंचायतों के लिए पूरा कार्यक्रम, एजेंडा तैयार कर दिया और इस एजेंडे को महात्मा, आजादी की बाट जोह रहे देशवासियों को कैसे बताते हैं ? – एक साप्ताहिक अखबार के जरिए जो वह आंदोलन की अलख जगाने और अपने सपनों के भारत हेतु रचनात्मक कार्यक्रम तैयार करने व देश के जन–जन तक प्रेषित करने के लिए निकाल रहे थे।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान जो अखबार निकल रहे थे उनका एक मिशन

---

*कोचीन (केरल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

था। उस मिशन में व्यवसाय कहीं नहीं था। उनका मकसद हर हाल में देश को आजाद कराना था। और जब यह मकसद आसन्न दिखने लगा, तो एक बेहतर समाज की रचना– समानता, भाईचारे पर आधारित, आत्मानिर्भर और प्रगतिशील समाज की रचना करना उनके मकसद में शामिल हो गया। महात्मा पूरे आंदोलन के अगुवा थे, पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अपने दौर में उन्होंने नेता की हैसियत से मानदंड कायम किए। मिशन और मकसद वाली यह पत्रकारिता स्वाधीनता के बाद भी वर्षों, बल्कि दशकों तक जारी रही। लेकिन उसके बाद धीरे–धीरे उसकी बुनियादी संरचना और स्वरूप बदलने लगे। स्वामित्व में पूंजी का और मिशन की जगह कैरियर और नौकरी करने का भाव प्रबल हुआ जिससे उद्देश्यपरकता और मकसद दोनों क्षीण हुए।

बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक में हिंदी और भाषायी पत्रकारिता न केवल व्यापक हुई बल्कि बाजार से प्रेरित भी हुई। अखबारों का प्रसार बढ़ा और बाजार के नियामकों ने इसे लपक लिया। इसका परिणाम बहुआयामी हुआ। अखबार धीरे–धीरे प्रभुवर्ग से निकलकर आमजन का माध्यम बन गए। समाचरों में स्थानीयता को वरीयता मिली और उनके स्थानीय संस्करण निकलने लगे। शिक्षा के प्रसार, गांवों तक सड़कों और पहुंच मार्गों के निर्माण और ग्रामीण इलाकों में आ रही जागृति ने अखबारों और समाचारों के स्थानीयकरण को सफल बनाने में सहयोग किया और गांवों में रहने वाले लोग, किसान अखबारों के नए पाठक बने तथा उनकी समस्याएं व सरोकार अखबारों की खबर बनने लगे। बीसवीं सदी के आखिरी दशक में देशभर में एक किस्म की अखबारी क्रांति हो रही थी, एक सर्वथा नया, अब तक अछूता पाठक वर्ग उससे जुड़ रहा था। इसी दौरान सन् 1993 में 73वें और 74वें संविधान संशोधन के रूप में पंचायती राज संस्था को संवैधानिक मान्यता दी गई और इससे महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया। ग्रामीण और जिलास्तर पर पंचायतें स्वशासन का प्रमुख औजार बनीं। गांवों में स्थानीय शासन के जड़ पकड़ने के फलस्वरूप किसान और ग्रामीण समाज में परम्परा से स्वीकृत मानव मूल्यों, मानव अधिकारों के साथ–साथ संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति एक नयी चेतना और समझ का विकास हुआ। ग्रामीण जन पंचायतों को समझना चाहते थे, पंचायती राज संस्था के रूप में हासिल अधिकारों को समझना चाहते थे और इन पंचायतों में हो रही गड़बड़ियों व खींचतान को अखबारों के मार्फत शासन और जनता के सम्मुख लाना भी चाहते थे। इसीलिए वे अखबारों के नए, जिज्ञासु पाठक थे, साथ ही खबरें जुटाने वाले और खुद खबर भी थे।

गांवों और कस्बों में अपनी पहुंच व पकड़ अधिक से अधिक मजबूत बनाने के लिए अखबार पंचायत कर्मियों, प्रशिक्षकों और गड़बड़ियों आदि की खबरें हासिल करने

लगे। समाचारपत्रों की इस सतत उपस्थिति से गावों के प्रायः स्थिर जीवन में एक अलग किस्म की हलचल और जागरूकता आई जिसकी वजह से पंचायतों और स्थानीय स्वशासन तंत्र के क्रियाकलापों में पारदर्शिता भी आई।

लेकिन सारे अखबार एक जैसी सक्रियता दिखा रहे हों या एक जैसी जागरूकता फैला रहे हों, ऐसा भी नहीं है। बहुत सी गतिविधियां ऐसी रहीं जो उनसे छूटती रहीं अथवा जिन्हें वे किन्ही कारणों से छोड़ते रहे। ऐसी कुछ आरंभिक घटनाओं की चर्चा हर्ष मंदर अपनी किताब ''अनहर्ड वॉयसेज : स्टोरीज ऑफ फॉरगॉटन लाइव्स'' में करते हैं। यहां एक ऐसी घटना का संक्षेप में मैं उल्लेख करूंगा जिसमें दलित तबके के कमजोर और सीधे–सादे व्यक्ति को राजस्थान के एक गांव में सरपंच बना कर गांव का संपन्न और ताकतवर जमींदार अपने साथियों के साथ उससे जाली कागज़ात पर दस्तखत करा पंचायत का लाखों का कोष गबन कर जाता है। पंचायत व्यवस्था के मामले में यह संक्रमण काल (transition Phase) की घटनाएं हैं। इससे पहले कि यह फरेब ज्यादा दिनों तक जारी रहे, प्यारचंद नामक इस सरपंच को यह अहसास हो जाता है कि उसके सामने टुकड़े फेंक कर उससे जाली काम और जाली दस्तखत कराए जा रहे हैं।वह गोपनीय तरीके से राजस्थान के उसी अंचल में सक्रिय मजदूर किसान शक्ति संगठन के कार्यकताओं से संपर्क कर उन्हें समूचे घटनाक्रम से अवगत कराता हैं, मजदूर किसान शक्ति संगठन के लाग उस ग्राम पंचायत में पहुँच कर तहकीकात करते हैं। मामले की तह तक जाते हैं और वहीं जन सुनवाई कर मीडिया, जिला प्रशासन और स्थानीय लोगों के सम्मुख इस भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ करते हैं। इस प्रक्रिया में सरपंच को अपने पद से हाथ धोना पड़ा, उसे निलंबित कर दिया गया, क्योंकि दस्तखत उसी ने किए थे सबूत उसके खिलाफ थे।

लेकिन मीडिया ने इसे महज एक तात्कालिक खबर की तरह नहीं कवर किया, उसके भीतर के विचार को, सरपंच प्यार चंद की मूल भावना को पकड़ा और तवज्जो दी। जिससे न केवल सरपंच की एक जिम्मेदार ग्रामीण नागरिक की हैसियत से विश्वसनीयता बढ़ी, बल्कि उस पद की गरिमा बढ़ी और पंचायती राज व्यवस्था को मजबूती मिली। संक्रमण काल में इस तरह की अनेक घटनाएं घटीं, आज भी घट रही हैं। लेकिन उनका प्रतिशत कम हुआ है।

मित्रो, याद दिलाना चाहूंगा कि यह वही मजदूर किसान शक्ति संगठन है जिसका नेतृत्व दशकों से प्रसिद्ध सामाजिक और मानवाधिकार कार्यकर्ता अरूणा राय कर रही हैं और जिसने नागरिकों के सूचना पाने के अधिकार को उनका मौलिक

अधिकार माना, गांव–गांव घूम कर इस बारे में जागृति पैदा की और अंततः सरकार को विवश कर दिया कि कानून बना कर यह अधिकार, सूचना का अधिकार जनता को सौंपे। मजदूर किसान शक्ति संगठन राजस्थान के गांव–गांव में अलख जगाता रहा है। पंचायतों द्वारा विधि द्वारा सौंपे गए विकास गतिविधियों की सूची के तहत चलाए जा रहे कार्यक्रमों, वित्तीय गतिविधियों, स्वास्थ्य रक्षा और बच्चों की शिक्षा से जुड़ी गतिविधियों, मनरेगा जैसे कार्यक्रमों के क्रियान्वयन से जुड़ी शिकायतों की जांच कर, सूचना के लिए अधिकार के तहत खाता बहियों की जानकारियां हासिल कर मजदूर–किसानों के अधिकार के लड़ता रहा है और पंचायतों के क्रियाकलापों को पारदर्शी तथा भ्रष्टाचार मुक्त बनने के लिए प्रयासरत रहा है। राजस्थान में मजदूर–किसान शक्ति संगठन की कार्यवाहियों में स्थानीय समाचार पत्र हमेशा उसके साथ रहे और जनसुनवाइयों सहित उसके समस्त क्रिया–कलापों को कवरेज प्रदान करते रहे। कहना न होगा कि मजदूर किसान शक्ति संगठन के अभियानों की सफलता में ग्रामीण लोगों की सक्रिय भागीदारी के अलावा स्थानीय समाचारपत्रों की सक्रियता एक बड़ा कारक है।

मामला चाहे नरेगा में मजदूरों के भुगतान और खातों में हेराफरी का हो, या ग्राम पंचायतों की वित्तीय अथवा राजनीतिक उठा–पठक का, स्थानीय समाचारपत्रों ने उसकी भरपूर कवरेज की। लेकिन जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, कवरेज केवल गडबड़ियों की ही नहीं हो रही थी, इस प्रक्रिया में गांववासी, किसान–मजदूर धीरे–धीरे पंचायती राज व्यवस्था के रूप में हासिल अपने हकों–अधिकारों और उसकी कार्यविधि की सूक्ष्मताओं से भी अवगत हुए।

पंचायती राज संस्थाओं के अस्तित्व में आने के बाद का काल, यानी 1993 और उसके बाद का काल इस लिहाज़ से भी महत्त्वपूर्ण है कि इस दरम्यान गरीबों, किसानों, पंचायतों को सशक्त बनाने वाले कई कानून और नियम अस्तिव में आए। पंचायतों में महिलाओं के लिए आरक्षण आरंभिक 33 प्रतिशत से बढा कर 50 प्रतिशत कर दिया गया, वन अधिकार अधिनियम 2006, शिक्षा का अधिकार अधिनियम और ग्राम–न्यायालय कानून अस्तित्व में आए और इन सबसे ग्राम पंचायतों को पहले से ज्यादा शक्ति व मजबूती हासिल हुई। अखबारों ने इन सबको अपना विषय बनाया, उनकी खूबियों और खामियों की चर्चा की, मूल्यांकन किए तथा उन पर रायशुमारी की। इनके फलस्वरूप पंचायतों के लिए अधिनियम में पहले से सूचीबद्ध 29 विषयों सहित इन नए कानूनों से हासिल अधिकारों के बारे में न केवल ग्रामीणजन बल्कि खुद पंचायत प्रतिनिधियों की भी जागरूकता बढ़ी। आज स्वास्थ्य, शिक्षा, बुनियादी ढांचागत विकास,

रोजगार जैसे तमाम विषय पंचायतों की देखरेख में संचालित होते हैं।

लेकिन स्थानीय समाचारपत्रों की सक्रियता के इस आख्यान से यह नहीं समझना चाहिए कि समाचारपत्रों में पंचायत, गांव–कस्बे और स्थानीयकरण की जिस प्रवृत्ति ने बीसवीं सदी के आखिरी दशक में जोर पकड़ा वह किसी किस्म के पत्रकारी मिशन का हिस्सा था, नहीं। इसकी वजह शुद्ध रूप से बाजार की प्रतियोगिता में बने रहने के लिए अपना अधिक प्रसार करना था ताकि न केवल अधिक से अधिक पाठकों तक पहुंचा जाए बल्कि अधिक से अधिक विज्ञापन हासिल किए जाए और इस तरह अखबार निकालने के धंधे से मुनाफे को अधिकाधिक बढ़ाया जाए। इसीलिए अखबारों के अधिकाधिक स्थानीय संस्करण निकालने के चलन ने जोर पकड़ा। उन संस्करणों का पेट भरने के लिए जो भी खबर स्थानीय थी, उनका ग्राह्य बनीं। चाहे वह किसान–मजदूरों की गरीबी हो या आत्महत्या, चाहे समाज में व्याप्त जातीयता हो या सांप्रदायिकता, चाहे पंचायतों की अंदरूनी राजनीति हो या उनके विकास कार्यक्रम, सभी अखबारों के पन्नों पर साया हुए। इस तरह पंचायतों और उसकी गतिविधियों की कवरेज समर्पित और मिशनरी भावनाओं के साथ नहीं हो रही थी, बल्कि तरह–तरह की अन्य खबरों के साथ एक पूरक खबर के तौर पर हो रही थी। इसका हासिल क्या हुआ ?

पहला यह कि अखबारों की प्रसार संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। स्थिति यह बनी कि पिछले दस सालों से भारत में सर्वाधिक प्रतियां बेचने वाले अखबारों में हिंदी और भाषायी समाचारपत्रों का बोलबाला है। हिंदी इनमें शीर्ष पर है जबकि अंग्रेजी अखबार कहीं दूर पीछे छूट गए हैं।

दूसरा, प्रसार बढ़ाने से समाचार समूहों को विज्ञापनों से होने वाली आय में भी अप्रत्याशित वृद्धि हुई। वर्ष 2004–05 में अखबारों की विज्ञापन–वृद्धि ने टीवी को भी पीछे छोड़ दिया।

तीसरा, (इसे आप पहले स्थान पर भी रख सकते हैं) गांवों में मानवाधिकार को लेकर, मौलिक अधिकारों को लेकर चेतना बढ़ी, ग्राम पंचायतों की भूमिका को लेकर चेतना बढ़ी। दलितों और महिलाओं जैसे वंचित तबकों में एक किस्म का आत्माविश्वास पनपा और आरंभिक संकोच के बाद अधिकाधिक महिलाएं ग्राम पंचायत की गतिविधियों में शरीफ होने लगी। बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, केरल और उत्तराखंड जैसे राज्यों ने 33 प्रतिशत से आगे बढ़कर पंचायतों और स्थानीय निकायों

में महिलाओं को 50 आरक्षण देना आरंभ किया। इन सकारात्मक घटनाओं को न केवल स्थानीय वरन राष्ट्रीय संस्करणों में भी समुचित जगह मिली जिसका परिणाम यह हुआ कि केंद्र सरकार ने 27 अगस्त, 2009 को स्त्री अधिकारिता की दिशा में मजबूत और ऐतिहासिक पहल करते हुए पंचायती राज संस्थाओं में महिलाओं के लिए आरक्षण 33 प्रतिशत से बढ़ा कर 50 प्रतिशत कर दिया। इस समय देशभर के पंचायतों में करीब 28 लाख निर्वाचित पंचायत, प्रतिनिधि हैं जिसका प्रायः 37 प्रतिशत महिलाएं हैं। बिहार में तो सन् 2006 हुए पंचायत चुनाव में राज्य के 38 जिला परिषदों में से 21 की कमान महिलाओं के साथ में आ गई। समाचारपत्रों ने परोक्ष–अपरोक्ष रूप से महिला अधिकारिता, चाहे वह गांव की महिलाएं हों या शहरों की, को मजबूत करने की दिशा में जितना व्यापक योगदान किया हैं उसका बयान आसानी से नहीं किया जा सकता।

बता चुका हूँ कि व्यावसयिकता के दबाव में अखबारों के लिए कुछ भी अग्राह्य नहीं रहा। बिना विचार को तवज्जो दिए, हर तरह की घटनाएं जो उन्हें व्यापक पाठक वर्ग तक ले जाए प्रसार बढ़ाए उनको वे आगे बढ़कर थामते, छापते, फैलाते गए। इसलिए समाचारपत्रों के स्थानीयकरण के परिणामस्वरूप समाज में जाति आधारित और सांप्रदायिक भावनाओं ने जोर पकड़ा। समाज को बांटने वाली जो ताकतें और विचार स्वतंत्र भारत के आरंभिक दशकों में कमजोर पड़ गए थे, उन्हें दुबारा मजबूती और स्वीकृति मिलने लगी।

दरअसल पूंजी और व्यावसायिक दृष्टि समाचार को ऐसी वस्तु की तरह देखती है जिसे बेचा जा सके। उसे समाचार और विचार में कोई अंतर्संबंध नहीं दिखाई देता। लेकिन सच्चाई यह है कि अच्छी और स्तरीय पत्रकारिता का आधार सिर्फ तात्कालिक खबरें नहीं होतीं, बल्कि उसमें निहित विचार होता है। इसीलिए बकौल मृणाल पांडे 'एक अच्छा पत्रकार या तो किसी विचार को अपनी रपट या विश्लेषण के मार्फत प्रतिष्ठित करता है या फिर किसी स्वीकृत विचार के स्तर पर उसका सफलतापूर्वक तर्कसंगत विरोध। दोनों ही स्थितियों में वह लोकतंत्र में विचारों की सार्थक केंद्रीयता को बहाल करता है।' कहना न होगा कि पंचायतों, स्थानीय स्वाशासी निकायों आदि से जुड़ी खबरों में जहां कहीं तात्कालिकता से ऊपर वैचारिकता को जगह दी गई, और ऐसा सभी समझदार अखबार और उनके संपादकों ने किया, उदाहरण मैं पहले दे चुका हूँ, वहां खबरों ने पंचायतों, स्वशासी निकायों सहित समूचे ग्रामीण समाज की अधिकारिता को मजबूत किया है, किसान–मजदूरों को जाग्रत और चेतना संपन्न बनाने में मदद की है।

मित्रो, अपनी बात समाप्त करने से पहले एक बार दुहराना चाहूंगा कि जो बातें मैंने कही हैं वह हिंदी और भाषायी समाचारपत्र–पत्रिकाओं के हवाले से और उनके संदर्भ में ही हैं। अंग्रेजी समाचार पर और इलेक्ट्रानिक मीडिया को इस लेख में शामिल नहीं किया गया है। इसकी मूल वजह यह है कि मेरा मानना है कि अंग्रेजी अखबार और इलेक्ट्रानिक मीडिया इन दोनों का बुनियादी चरित्र शहरी है। गांव और गांवों की संवेदनाएं, समस्याएं, मुद्दे और ग्रामीण जीवन इनके सॉफ्टवेयर का हिस्सा नहीं हैं।

* * * *

सामाजिक बोध, प्रिंट मीडिया* तथा मानवाधिकारी

तरूशिखा सुरजन

अमेरिका के तीसरे राष्ट्रपति थॉमस जेफरसन ने कहा था, '' यदि मुझे कभी यह निश्चित करने के लिए कहा गया कि अखबार और सरकार में से किसी एक को चुनना है तो मैं बिना हिचक यही कहूंगा कि सरकार चाहे न हो, लेकिन अखबारों का अस्तित्व अवश्य रहे।''

एक समय था जब अखबार को समाज का दर्पण कहा जाता था। समाज में जागरूकता लाने में अखबारों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह भूमिका किसी एक देश अथवा क्षेत्र तक सीमित नहीं है, विश्व के तमाम प्रगतिशील विचारों वाले देशों में समाचार पत्रों की महती भूमिका से कोई इंकार नहीं कर सकता। मीडिया में और विशेष तौर पर प्रिंट मीडिया में जनमत बनाने की अद्‌भुत शक्ति होती है। नीति निर्धारण में जनता जानने में और नीति निर्धारकों तक जनता की बात पहुंचाने में समाचार पत्र एक सेतु की तरह काम करते हैं।

समाज पर समाचार पत्रों का प्रभाव जानने के लिए हमें एक दृष्टि अपने इतिहास पर डालनी चाहिए। लोक मान्य तिलक, महात्मा गांधी और पं0 नेहरू जैसे स्वतंत्रता सेनानियों ने अखबारों को अपनी लड़ाई का एक महत्वपूर्ण हथियार बनाया। आजादी के संघर्ष में भारतीय समाज को एकजुट करने में समाचार पत्रों की विशेष भूमिका थी। यह भूमिका इतनी प्रभावशाली हो गई थी कि अंग्रेजों ने प्रेस के दमन के लिए हर संभव कदम उठाए। स्वतंत्रता के पश्चात लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा और वकालत करने में अखबार अग्रणी रहे। आज मीडिया अखबारों तक सीमित नहीं है परंतु इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और वेब मीडिया की तुलना में प्रिंट मीडिया की पहुंच और

***मैसूर (कर्नाटक) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

विश्वसनीयता कहीं अधिक है। प्रिंट मीडिया का महत्व इस बात से और बढ़ जाता है कि आप छपी हुई बातों को संदर्भ के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और उनका अध्ययन भी कर सकते हैं। ऐसे में प्रिंट मीडिया की जिम्मेदारी भी निश्चित रूप से बढ़ जाती है। मशहूर शायर अकबर इलाहाबादी के शेर से आप में से ज्यादातर वाकिफ होंगे कि :–

न खेचों कमान, न तलवार निकालो।
गर तोप मुकाबिल हो, तो अखबार निकालो।

अब मानवाधिकार की बात करें तो संविधान में उल्लेखित मौलिक अधिकार मोटे तौर पर मानवाधिकार ही हैं। हर व्यक्ति को स्वतंत्रता व सम्मान के साथ जीने का अधिकार है चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, वर्ग का क्यों न हो। लोकतंत्र में मानवाधिकार का दायरा अत्यंत विशाल है। राजनैतिक स्वतंत्रता, शिक्षा का अधिकार, महिलाओं के अधिकार, बाल अधिकार, निशक्तों के अधिकार, आदिम जातियों के अधिकार, दलितों के अधिकार जैसी अनेक श्रेणियां मानवाधिकार में समाहित हैं। यदि गौर किया जाए तो कुछ ऐसी ही विषयवस्तु पत्रकारिता की भी है। पत्रकारों के लिए भी मोटे तौर पर ये संवेदनशील मुद्दे ही उनकी रिपोर्ट के स्त्रोत बनते हैं। परंतु मानवाधिकार मुख्यतः एक राजनैतिक अवधारणा है, जिसका विकास और निर्वहन लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के अंतर्गत ही संभव है। व्यक्ति की राजनैतिक स्वतंत्रता, राजसत्ता के खिलाफ स्वतंत्र अभिव्यक्ति का अधिकार ही मानवाधिकार का मूल है।

भारत जैसे देश में जहां गरीबी व अज्ञानता ने समाज के एक बड़े हिस्से को अंधकार में रखा है, वहां मानवाधिकारों के बारे में जागरूकता जगाने में, उनकी रक्षा में तथा आम आदमी को सचेत करने में अखबार समाज की मदद करते हैं। हम स्वयं को लोकतंत्र कहते हैं तो हमें यह भी जान लेना चाहिए कि कोई भी राष्ट्र तब तक पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक नहीं हो सकता जब तक उसके नागरिकों को अपने अधिकारों को जीवन में इस्तेमाल करने का संपूर्ण मौका न मिले। मानवाधिकारों का हनन मानवता के लिए खतरा है। आम आदमी को उसके अधिकारों के बारे में शिक्षित करने में मीडिया निश्चित रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सूचना के प्रचार–प्रसार से लेकर आम राय बनाने तक में मीडिया अपने कर्तव्य का भली–भांति वहन करता है। एक विकासशील देश में जहां मानवाधिकारों का दायरा व्यापक है, वहां मीडिया के सहयोग के बिना सामाजिक बोध लगभग असंभव है।

भारत में पूर्णतः स्वतंत्र प्रेस की परिकल्पना आरंभ से ही रही है। 1910 के प्रेस

एक्ट के खिलाफ बोलते हुए पं0 जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि :–

" I Would rather have a completely free press with all the dangers involved in the wrong use of the freedom than a suppressed or regulated press"

उन्होंने यह बात 1916 में कही थी। स्वतंत्रता पश्चात प्रेस की स्वतंत्रता को समझते हुए संविधान में इसका प्रावधान किया गया। यहां यह उल्लेखित करना आवश्यक होगा कि प्रेस की स्वतंत्रता सिर्फ उसके मालिक, संपादक और पत्रकारों की निजी व व्यवसायिक स्वतंत्रता तक सीमित नहीं होती बल्कि यह उसके पाठकों की सूचना पाने की स्वतंत्रता और समाज को जागरूक होने के अधिकार को भी अपने में समाहित करती है। प्रेस का सबसे बड़ा कर्तव्य समाज को जागरूक करना होता है। अपने अधिकारों की जानकारी ज्यादा से ज्यादा लोगों तक होने से मानवाधिकारों की रक्षा के लिए कदम उठाए जा सकते हैं। आखिरकार जिन्हें अपने अधिकारों की जानकारी होगी, ऐसे व्यक्ति ही उनकी मांग कर सकते हैं तथा सरकार व अधिकारियों को अपने व दूसरों के मानवाधिकारों की रक्षा के लिए मजबूर कर सकते हैं। इस विशाल देश में मानवाधिकार हनन के अधिकांश मामले ग्रामीण क्षेत्रों में होते हैं, जहां की जनता शहरी जनता की बनिस्बत कम जागरूक होती है। अनेक गैर सरकारी संगठन इन क्षेत्रों में कार्य करते हैं। उसके लिए भी मीडिया के सहयोग के बिना कार्य करना संभव नहीं है। मीडिया समाज की आवाज शासन तक पहुंचाने में उसका प्रतिनिधि बनता है।

अब सवाल यह उठता है कि क्या वाकई मीडिया अथवा प्रेस जनता की आवाज है? आखिर वे जनता किसे मानते हैं ? उनके लिए शोषितों की आवाज उठाना ज्यादा महत्वपूर्ण है अथवा क्रिकेट की रिपोर्टिंग करना, आम आदमी के मुद्दे बड़े हैं अथवा किसी सेलिब्रिटी की निजी जिंदगी ? आज की पत्रकारिता इस दौर से गुजर रही है जब उसकी प्रतिबद्धता पर प्रश्नचिन्ह लग रहे हैं। समय के साथ मीडिया के स्वरूप और मिशन में काफी परिवर्तन हुआ है। अब गंभीर मुद्दों के लिए मीडिया में जगह घटी है। अखबार का मुखपृष्ठ अमूमन राजनेताओं की बयानबाजी, घोटालों, क्रिकेट मैचों अथवा बाजार के उतार–चढ़ाव को ही मुख्य रूप से स्थान देता है। गंभीर से गंभीर मुद्दे अंदर के पृष्ठों पर लिए जाते हैं तथा कई बार तो सिरे से गायब रहते हैं। समाचारों के रूप में कई समस्याएं जगह तो पा लेती हैं परंतु उन पर गंभीर विमर्श के लिए पृष्ठों की कमी हो जाती है। पिछले कुछ वर्षों में हम देख रहे हैं कि मानवाधिकारों

को लेकर मीडिया की भूमिका लगभग तटस्थ है। हम इरोम शर्मिला और सलवा जुडूम के उदाहरण देख सकते हैं। ये दोनों प्रकरण मानवाधिकारों के हनन के बड़े उदाहरण है, लेकिन मीडिया में इन प्रकरणों पर गंभीर विमर्श अत्यंत कम हुआ है। राजनैतिक स्वतंत्रता के हनन के मुद्दे पर मीडिया अक्सर चुप्पी साध लेता है। मीडिया की उदासीनता स्वस्थ लोकतंत्र के लिए अत्यंत घातक है। लोकतंत्र में राजद्रोह की कोई अवधारणा नहीं है और न होनी चाहिए। अपनी बात कहने का, अपना पक्ष रखने का अधिकार हर व्यक्ति के पास है, चाहे वह अपराधी ही क्यों ना हो। राजसत्ता का अहंकार व्यक्ति की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को यदि राजद्रोह मानने लगे तो लोकतंत्र का अस्तित्व ही संकट में पड़ जाएगा। मीडिया को अपनी उदासीनता छोड़कर मानवधिकारों के हनन को रोकने की दिशा में सार्थक कार्य करना होगा।

भारत तथा विश्व में मानवाधिकार हनन के मुद्दों पर प्रिंट मीडिया की क्या भूमिका रही है, इसके कुछ और उदाहरण आपके समक्ष रखना चाहती हूं। पहले बात करते हैं दक्षिण अफ्रीका की जहां रंगभेद की नीति ने वर्षों तक नागरिकों के मानवाधिकारों का हनन व दमन किया। दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीकन व इंग्लिश अखबारों की इस मुद्दों पर अलग–अलग भूमिका रही। एक ओर जहां अफ्रीकन अखबारों में इसे सही ठहराते हुए हमेशा शासन के पक्ष को मजबूत किया, वहीं दूसरी ओर इंग्लिश प्रेस ने शासन की आलोचना करते हुए भी राजनीतिक आंदोलन को आपराधिक आंदोलन के रूप में प्रस्तुत किया। परंतु जैसे–जैसे रंगभेद के खिलाफ जनता का आंदोलन मजबूत हुआ, इंग्लिश प्रेस की नीति भी बदली। इस पूरे आंदोलन के दौरान रिपोर्टिंग की भाषा ने चाहे वह अफ्रीकन अखबार रहे हो अथवा इंग्लिश वस्तुस्थिति को तोड़–मरोड़ कर पेश किया। कुल मिलाकर रंगभेद के खिलाफ लड़ने में प्रिंट मीडिया मुख्यतः शासन के पक्ष में रहा और यह सबक मिला कि विकासशील समाज के लिए बंधनमुक्त, सेंसरमुक्त मीडिया कितना आवश्यक है।

हमारे पड़ोसी देश पाकिस्तान में भी मानवाधिकार हनन के सैकड़ों मामले होते हैं। वहां का प्रिंट मीडिया मुख्यतः उर्दू व अंग्रेजी में है। अंग्रेजी अखबारों के साधन व पहुंच उर्दू अखबारों की तुलना में कही अधिक है। अतः रिर्पोटिंग में भी अंतर होना स्वाभाविक है। इसके अलावा अंग्रेजी अखबारों के रिपोर्टर एक निश्चित परिभाषित बीट के लिए कार्य करते हैं। वहीं उर्दू रिपोर्टरों को अमूमन एक साथ कई बीट के लिए रिपोर्टिंग करनी होती है। ऐसे में मानवाधिकार हनन मामलों की जो समझ और ट्रेनिंग उन्हें होनी चाहिए, उसकी कमी रिपोर्टिंग में नजर आती है। पाकिस्तान में सामाजिक,

राजनैतिक व धार्मिक प्रतिबंधों के चलते भी इन मामलों को जिस तरह उठाना चाहिए, वह नहीं हो पाता। इन चुनौतियों के बावजूद पाकिस्तान के प्रिंट मीडिया ने राजसत्ता द्वारा नागरिकों के मानव अधिकार हनन के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की और अनेक बार राजसत्ता के कोप का शिकार बने। अनेक पत्रकारों की गिरफ्तारी हुई, कई अखबार बंद कर दिए गए और कईयों को अपनी जान भी गंवानी पड़ी।

भारत में मानवाधिकार हनन का पहला बड़ा मुद्दा जो मीडिया में आया था, वह था भागलपुर जेल में कैदियों की आंखे फोड़ने का मामला। इसके बाद मुबंई की आर्थर रोड़ जेल में महिला कैदियों के साथ दुर्व्यवहार व उनके शोषण की खबर ने सरकार को पूरे महाराष्ट्र में जेलों की स्थिति की जांच करने पर मजबूर कर दिया। इस तरह की रिपोर्टिंग ने प्रिंट मीडिया को मानवाधिकारों की रक्षा में बड़ा साथी बना दिया था। यह अलग बात है कि चाहे वह गुजरात के दंगों का सच हो, कश्मीर में बेगुनाहों की मौत का सच हो, उत्तर प्रदेश में भूमि अधिग्रहरण का सच हो अथवा विनायक सेन और नक्सलवाद का सच हो, प्रिंट मीडिया ने इन मुद्दों को अपनी प्रतिबद्धता व सामर्थ्यानुसार ही स्थान दिया है। हालांकि रोजाना जीवन के तो अनेक मानवाधिकार हनन मामले प्रिंट मीडिया के बगैर आम जनता तक सच्चाई से पहुंच नहीं पाते। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में ब्रेकिंग न्यूज की होड़ में यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि सच्चाई क्या है।

आज प्रिंट मीडिया को इलेक्ट्रॉनिक मीडिया से तगड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया अपने स्वरूप और सामर्थ्य की वजह से दर्शकों को 24 घंटे उपलब्ध है। टीआरपी की चाह में टीवी न्यूज चैनल सिर्फ गंभीर विमर्शों तक सीमित नहीं हैं अपितु वे फिल्मी चकाचौंध, सास–बहू के किस्सों, क्रिकेट की दुनिया के अलावा अंधविश्वासों तक को अपने प्रोग्राम में काफी स्थान देते हैं। ऐसे में प्रिंट मीडिया का भी स्वरूप बदलने लगा है और अखबारों के पन्ने भी झकझोरने के बजाय गुदगुदाने का काम करने लगे हैं।

मीडिया मालिकों की पूंजीवादी सोच के अलावा पत्रकारों की तैयारी भी एक बड़ा मसला है। एक समय था जब पत्रकार होना सम्मानजनक माना जाता था। बड़े–बड़े साहित्यकारों ने पत्रकारिता के क्षेत्र में भी अपनी लेखनी के झंडे गाड़े। प्रेमचंद, माखनलाल चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा से लेकर अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर आदि दिग्गज साहित्यकारों ने पत्रकार के रूप में भी सामाजिक बोध जगाने के अपने दायित्व का निर्वहन किया और राजनैतिक पत्रकारिता से ज्यादा रूचि मानवीय पत्रकारिता में दिखाई। कहने का तात्पर्य यह है कि उस दौर के पत्रकारों में विषय की, समाज की

गहरी समझ थी, उसे लेखन रूप में प्रस्तुत करने के लिए भाषा और भावना थी तथा सामाजिक प्रतिबद्धता थी। आज ये गुण कहीं खो से गए हैं। निजी हितों का दबाव इतना बढ़ गया है कि पत्रकारों की प्रतिबद्धता पल–पल बदलती रहती है। अपने कार्य के प्रति समर्पण में भी कमी नजर आती है। कहीं वे घटनास्थल तक पहुंच नहीं बना पाते तो कई बार उन्हें घटनाओं को सही परिप्रेक्ष्य में समझना नहीं आता तो कई बार भाषा के गलत इस्तेमाल से समाचार का भाव ही बदल जाता है।

इसके लिए आवश्यक है कि पत्रकारों को आरंभ से ही मानवाधिकार मामलों की भी ट्रेनिंग दी जाए। उनके विषयों में भारतीय संविधान में उल्लेखित मौलिक अधिकारों की पढ़ाई, कानून की समझ इत्यादि शामिल किए जाएं तथा कार्य क्षेत्र में भी उन्हें पुलिस बीट, लीगल बीट आदि पर भेजने से पहले कुछ ट्रेनिंग दी जाए। आधी अधूरी तैयारी व सतही समझ से मुद्दे कमजोर पड़ जाते हैं और उनके समाधान की राह कठिन हो जाती है। यदि मीडिया को समाज को राह दिखानी है तो स्वयं उसे सही राह पर चलना होगा।

एक सफल लोकतंत्र वही होता है जहां जनता जागरूक होती है। अतः सुशासन के लिए मीडिया का कर्तव्य बनता है कि वह लोगों का पथ प्रदर्शन करे। उन्हें सच्चाई का आइना दिखाए और सरकार को जनता के प्रति जवाबदेह बनाए। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जो हमारा मूल मानवधिकार है, वह सिर्फ भाषण देने तक सीमित नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य समाज में उचित न्याय का साम्राज्य स्थापित करना होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है हर कीमत पर हर व्यक्ति के मानवाधिकारों की रक्षा की जाए और उनका सम्मान किया जाए। मानवाधिकारों की रक्षा के लिए सामाजिक बोध जगाने में प्रिंट मीडिया की स्वतंत्रता इसी से सार्थक होगी।

* * * *

सुशासन का लक्ष्य, मानवाधिकार* और पत्रिकायें'

डॉ0 अनीता सिंह

भारत में जब राज्य की अवधारणा अस्तित्व में आयी, उसी समय सुशासन और मानवाधिकार के तत्व उसमें मौजूद थे। हालांकि ये दोनों शब्द व्यवहार में प्रचलित नहीं थे परंतु प्राचीन भारतीय ग्रन्थों ऋगवेद, अथर्ववेद, महाभारत, अर्थशास्त्र, हर्षचरित आदि में ऐसे अनेक मंत्र तथा उद्धहरण प्राप्त होते हैं जो प्राचीन भारत में सुशासन तथा मानवाधिकार को परिभाषित करते हैं।

प्राचीन भारत के तत्कालीन विचारकों ने शासन के चार महत्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित किये थे :–

1. शांति
2. सुव्यवस्था
3. सुरक्षा और
4. न्याय

अर्थात् शासन का प्रमुख लक्ष्य प्रजा की बहुमुखी उन्नति करना था। वर्तमान अवधारणा 'सुशासन' तथा 'मानवाधिकार' इन्हीं चारों लक्ष्यों में निहित है। प्रारंभ में उपनिषदों आदि में जिस प्रकार मानव जीवन के समुन्नत विकास के लिये धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की अनिवार्यता पर बल दिया गया था, ठीक उसी प्रकार शासन के लिये भी इन्हीं चारों तत्वों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्रधान लक्ष्य माना गया। 'धर्म' का वास्तविक अभिप्राय 'सदाचार' ही था जिससे राज्य सदा ही उन्नति के पथ पर अग्रसर होता रहता। 'अर्थ' के द्वारा राज्य प्रजा की भौतिक उन्नति में सहायता करता था। शासन 'काम' के अंतर्गत ऐसी परिस्थितियाँ को बनाये रखने का प्रयास करता जिससे प्रजा जीवन के सुखों का उपभोग करने की सुविधा पा सके। उपर्युक्त तीन

***मैसूर (कर्नाटक) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

लक्ष्यों को प्राप्त कर लेने पर अंतिम लक्ष्य व्यक्ति को स्वयं ही हासिल हो जाता है। अर्थात् प्राचीन समय में राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी था। हमारे संविधान में भी इस शब्द पर काफी बल दिया गया है। राज्य के इस कल्याणकारी स्वरूप की अवधारणा रामायण, महाभारत, पुराणों आदि में भी सिद्ध होती है। यहां तक भी कहा गया कि यदि किसी राजा के राज्य में प्रजा को दुख भोगना पड़े तो वह राजा नरकगामी होता है। 'कौटिल्य' के मतानुसार राजधर्म तभी सुस्थापित हो सकता है जब राजा प्रजा के हित में ही अपना हित समझे।

प्रजा सुखे सुखं राजा प्रजानां च हिते हितम्।
नात्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।।

'हर्षचरित' में बाण ने शासक को प्रजा का बंधु माना तो वहीं अशोक अपने अभिलेखों में स्पष्ट कहता है कि सभी लोग मेरे पुत्र हैं।

अर्थात् प्राचीन भारत में शासन का प्रथम और अंतिम लक्ष्य प्रजा का पालन करना ही होता था। परंतु समय की गति ने न केवल शासन के लक्ष्यों को बदला बल्कि शासक के चरित्र को भी पूरी तरह से बदल डाला।

सर्वविदित है कि ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः'' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम' को मानने वाले इस देश में, वर्ग विशेष को प्रारंभ से ही मूलभूत अधिकारों से वंचित किया गया है। इतिहास के पन्नों को पलटे तो ज्ञात होगा कि पूरा का पूरा मध्ययुगीन काल घोर अव्यवस्था और मानव के नैसर्गिक अधिकारों के दमन का काल है। अंग्रेजी सरकार ने भी कोई कोर कसर नहीं रखी। आजादी के बाद से ही यही कोशिश रही कि शासन व्यवस्था सुचारू रूप से शांतिपूर्वक प्रजा की सहभागिता से चले। काल प्रवाह ने समाज, समुदाय, देश आदि की गति भी बदली। औद्योगिक विकास, तकनीकी विकास, भूमण्डलीकरण, पूंजीवाद, बाजारवाद ने मानव को मानव न रहने दिया।

आज स्थिति यह हो गयी है कि मनुष्य को मनुष्यता का बोध कराने के लिये हर संभव प्रयास किये जा रहे हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में मानवाधिकार की गणना भी होती है। मानवाधिकार वे अधिकार है जो मनुष्य को मनुष्य होने की वजह से मिलते हैं। इन अधिकारों की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य के लिये जन्म से ही सुनिश्चित है। पर समय के साथ बढ़ रही जटिलताओं ने इस पर भी अकुंश लगा रखा है। वर्तमान में पूंजीवाद, बाजारवाद आदि बाधक है तो वहीं अतीत में सामाजिक कुरीतियों, जातिप्रथा, बालविवाह, सतीप्रथा, अशिक्षा, गरीबी, आदि भी मानवाधिकार के हनन के प्रमुख कारण रहे हैं।

इसलिये समय–समय पर सामाजिक सुधारों की भी पुरजोर कोशिश की गयी। राजा राममोहनराय, दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फूले, अम्बेडकर, गांधी जी जैसे नेताओं तथा समाज सुधारकों ने मानव को मानव बने रहने के लिये सचेत किया। ध्यातव्य है कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम, नवजागरण और साहित्य–पत्रकारिता साथ–साथ ही चले।

सन् 1826, कोलकत्ता से प्रकाशित जुगल किशोर शुक्ल के 'उदंत मार्तण्ड' को हिंदी पत्रकारिता के इतिहास में पहला पत्र माना जाता है। समाचार एवं सूचनाओं की दृष्टि से यह अपने समय का महत्वपूर्ण साप्ताहिक पत्र था। लेकिन आर्थिक कठिनाइयों के चलते यह अधिक समय तक प्रकाशित नहीं हो सका। हिंदी पत्रकारिता के प्रारंभिक चरण से इनके प्रकाशन में आर्थिक पक्ष प्रमुख कारक रहा है। कई पत्रिकायें धनाभाव के कारण दो या तीन अंको के बाद ही बंद हो जाती थीं। श्री भारतेंदु हरिशचंद्र, श्री बालमुकुन्द गुप्त, श्री पुरूषोत्तम दास जी टण्डन प्रारंभिक पत्रकारिता के क्षेत्र में अग्रणी थे। 'सरस्वती पत्रिका' के प्रकाशन में हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में नवयुग चेतना का उदय हुआ। प्रारंभिक पत्रिकाओं में 'माधुरी', 'हंस', 'मतवाला', 'सुधा', 'विशाल भारत', 'कर्मवीर', आदि की जनमानस में गहरी पैठ थी। ये पत्रिकायें शुरू से ही अनाचार, अत्याचार और मानवीय मूल्यों के हनन का प्रतिरोध करती रहीं। इसी समय गांधीजी ने भी भारत आकर 'यंगइंडिया', 'हरिजन', 'नवजीवन' जैसे पत्र निकाले। इस पूरे काल की पत्रिकायें गांधी दर्शन से प्रभावित थीं।

यदि हम पत्रिकाओं की पृष्ठभूमि की चर्चा करे तो पाते हैं कि भारत के स्वतंत्रता–संग्राम के दौरान पत्र–पत्रिकाओं ने सक्रिय भूमिका निभायी थी। तमाम उत्पीड़न और तत्कालीन ब्रिटीश सरकार का दमन सहकर भी पत्रिकायें निकाली जाती थी और जनता तक उनकी पहुंच भी सुनिश्चित की जाती थी। उस समय पत्रकार, स्वतंत्रता सेनानी, साहित्यकार आदि की सभी भूमिकायें एक साथ निभायी जाती थी।

स्वतंत्रता–संग्राम के दिनों से ही समाचार पत्र–पत्रिकाएं स्वाधीनता के विस्तृत और व्यापक मानवाधिकार जैसे सामाजिक सुधार, छुआछूत, भेदभाव आदि सामाजिक जीवन में विभिन्न तरीके से मानवाधिकार आंदोलन की जमीन तैयार कर रही थीं।

स्वतंत्रता के पश्चात भी पत्रकारिता में महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय प्रगति हुई। तत्कालीन कवियों और लेखकों ने भी व्यवस्था में पनप रही विसंगतियों पर जमकर प्रहार किया। नागार्जुन मुक्तिबोध, दिनकर आदि कवियों ने शोषण के विरूद्ध आवाज़ उठाकर अन्याय, अत्याचार का विरोध किया। इन कवियों के केन्द्र में मानव ही रहा।

पीड़ित मानवता को स्वर देने वाले नागार्जुन की ये पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य है। जो कि आज के समय में भी प्रासंगिक हैं :–

जमींदार है, साहूकार हैं, बनिया हैं, व्यापारी हैं।
अंदर–अंदर विकट कसाई, बाहर खद्दरधारी हैं।
खादी ने मलमल से अपनी सांठ–गांठ कर डाली है।
बिड़ला–टाटा डालमिया की तीसों दिन दिवाली है।
सुशासन की आस लगाये मुक्तिबोध की पक्तियाँ दृष्टव्य हैं :–
समस्या एक
मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में
सभी मानव
सुखी, सुंदर व शोषण मुक्त कब होंगे ?

पत्रकारिता में एक समय ऐसा भी था जब धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान जैसी पत्रिकायें प्रकाशित होती थीं। 'दिनमान' जो कि अज्ञेय के सम्पादन में निकलती थी, अपनी प्रखरता के लिये जानी जाती थी। आज ये सभी पत्रिकायें बंद हो चुकी हैं। हालांकि संतोष की बात यह है कि बहुत सी नयी पत्रिकायें भी शुरू हुई हैं। प्रायः हर वर्ष दो–चार नयी पत्रिकाओं के प्रकाशन की सूचना मिल जाती है। लेकिन एक सच्चाई यह भी है कि आज व्यावसायिक पत्रिकाओं की प्रसार संख्या तो धड़ल्ले से बढ़ रही है, लेकिन जो पत्रिकायें जमीनी हकीकत से जुड़ी हुई हैं और अपसंस्कृति के खिलाफ लड़ रही हैं उनके पाठकों की संख्या नहीं बढ़ रही है। जबकि सामाजिक प्रतिबद्धता से सरोकार रखने वाली पत्रिकाओं की भूमिका सुशासन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इस तरह की पत्रिका ही लोगों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करती है, अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने से ही तो सुशासन के लिये आधार तैयार होगा। और देखा जाए तो अधिकांश समस्याओं का समाधान भी इसी में निहित है।

उदाहरण के लिये वर्तमान में कृषक समस्या को ही लें तो विदित होगा कि देश के अधिकांश हिस्सों में किसानों की हालत बेहद खराब है। एक कृषि प्रधान देश में किसानों की आत्माहत्या आज के समय की सबसे बुरी और डरावनी खबर है। 'भट्टा पारसौल' गांव में किसानों के आन्दोलन का क्या कारण था ? सरकार द्वारा भूमिग्रहण, विकास के नाम पर! विकास का तात्पर्य है – देश के संसाधनों का उपयोग ठीक प्रकार से हो जिससे एक आम नागरिक का जीवन स्तर बेहतर हो सके। जबकि जमीन जाने के बाद किसान का परिवार तो बेरोजगार हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा उसे कहीं

मजदूर का काम मिलता है या तो वे शहरों मे आकर चाय की दुकान खोल सकते हैं, या टैक्सी ड्राइवर बन जाते है। इससे इनकी स्थिति बेहद जटिल हो जाती है। उपज का पूरा मूल्य दे देना इस समस्या का समाधान नहीं है।

दूसरी ओर बुंदेलखंड देश का दूसरा 'विदर्भ' बनता है। केन्द्र और राज्य सरकारों के तमाम घोषित उपायों के बावजूद यहां के किसानों द्वारा की जा रही आत्माहत्याओं का सिलसिला थम ही नही रहा है। इलाहाबाद से निकलने वाली पत्रिका 'समकालीन जनमत' के (सितम्बर 2011 के) अनुसार बुंदेलखंड की प्रमुख समस्या सूखा है। पानी की किल्लत और इससे उत्पन्न समस्याओं को हल किया जा सकता है। शासन की ओर से तमाम योजनायें लागू भी हैं लेकिन वे सब प्रशासनिक लूट–खसोट की शिकार हो गयी हैं। पत्रिका की रिपोर्ट के अनुसार वहां गांवों में सामुदायिक रसोई चलाकर जरूरतमंदों को भोजन देने की योजना है, पेयजल के टैंकरों से जल आपूर्ति की व्यवस्था है, किसानों की ऋणमाफी योजना वहां भी लागू की गयी है पर प्रशासनिक स्तर पर चरम भ्रष्टाचार के कारण कुछ भी नहीं हो पा रहा है। यहां के लोगों की हताशा और विषाद का मुख्य कारण 'जल' है। इसका हल हुये बगैर वहां जनजीवन सामान्य नहीं हो सकता।

अब यहां सवाल यह उठता है कि जीवन की मूलभूत आवश्कताओं की पूर्ति जहां बाधित है, वहां के लोगों के कैसा मानवाधिकार और कैसा सुशासन ?

वहीं एक दैनिक पत्र में एक बहुत ही बड़े लेखक पत्रकार महोदय ने आज के किसानों को 'बाजारी किसान' सम्बोधित किया है। पत्रकार महोदय ने लिखा है कि 'मीडिया आज भी किसानों को प्रेमचंद का होरी समझती है।' जबकि आज का किसान इंजेक्शन लगाकर दूध निकालता है, दूध में यूरिया मिलाता है। सब्जी में रंग लगाकर लोगों की सेहत के साथ खेलता है।

तो क्या यह माना जाए कि ग्राम संस्कृति वाले भारत देश में किसानों के प्रति किसी में कोई संवेदनशीलता नहीं ? वस्तुतः अपनी जड़ों से गहरा सरोकार रखने वाले पत्रकार ही ऐसा काम कर सकते हैं पर दिक्कत यह है कि ऐसी पत्रिकाओं को दरकिनार करने की परम्परा सी दिख रही है।

इसी प्रकार एक और क्षेत्र है जिसमें साहित्यिक पत्रिकायें ज्यादा सक्रिय नहीं दिखती वह है आतंकवाद। आतंकवाद से जुड़ी खबरों को प्रकाशित करने में व्यावसायिक पत्रिकायें आगे हैं। पत्रिकाओं में इस मुद्दे पर आलेखों, कहानियों, कविताओं का सर्वथा अभाव दिखता है। अभी भी यह विषय कथा संवेदना का अंग नहीं बन पाया है, वरना

आज के आतंकवाद को अनेक स्तरों पर विश्लेषित किया जा सकता है।

आतंकवादी वास्तव में मानवाधिकार के मूल चिन्तन की ही हत्या करना चाहते हैं वहीं कुछ संगठन उनके मानवाधिकार की पैरवी करने लगते है। मानव समुदाय की गरिमा और सुरक्षा का समूल नाश करने वाले इन आतंकवादियों के मानवाधिकार की रक्षा की वकालत की जायेगी तो हमारे मानवाधिकार का क्या होगा ? ऐसे में पत्र–पत्रिकाओं का दायित्व हो जाता है कि निष्पक्ष और तार्किक ढंग से वे ऐसे मामलों को जनता के सामने रखे।

यहां एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या मासूम लोगों की हत्या करना ही आतंकवाद है ? निरंतर उपेक्षा, अनादर, अपमान के द्वारा ऐसी स्थितियां उत्पन्न कर देना जहां जीवन मरने से भी बदतर हो जाए, यह भी तो आतंकवाद है। उत्तर–पूर्वी राज्य हो, आदिवासी बहुल राज्य जहां की प्राकृतिक सम्पदा का दोहन करके वहां के निवासियों की जिंदगी नारकीय बनाकर निस्सहाय छोड़ देना क्या किसी आतंकवाद से कम है ?

पिछले कुछ समय से बिहार राज्य में 'सुशासन' शब्द काफी लोकप्रिय हो गया है। वहां के विकास के दावे सुनते–देखते अचानक 3 जून 2011 को 'फारबिसगंज' की गोलीकांड घटना ने पूरे देश को हैरान कर दिया। हालांकि इसके पहले 20 दिसम्बर 2010 को 'अररिया जिले' के बटराहा गोलीकांड ने देश को शर्मसार किया था। इन दोनों घटनाओं की पत्रिकाओं ने जमकर निंदा की।

अब प्रशासन ही मानवाधिकारों का उल्लंघन करेगा तो वह सुशासन के लक्ष्य तक कैसे पहुंचेगा ? समुचित सूचना उपलब्ध कराना मात्र ही पत्रिकाओं का उद्देश्य नहीं है बल्कि इच्छित सामाजिक परिवर्तन ही उनका अंतिम लक्ष्य होता है। अभी हाल ही में देश ने एक बहुत बड़े आंदोलन को देखा है। हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि 'अन्नाहजारे' के आंदोलन ने पूरे देश को भ्रष्टाचार के खिलाफ एक जुट किया है और इसमें मीडिया की भूमिका महत्वपूर्ण रही है, यह भी एक तथ्य है। ये 'सुशासन' की तरफ बढ़ाया गया एक कारगार कदम है। प्रश्न यह उठता है कि इसके पूर्व के आंदोलनों के मुद्दे क्या कम महत्वपूर्ण थे या उनमें ईमानदारी का अभाव था। इसका ज्वलंत उदाहरण है मणिपुर की –'ईरोम शर्मिला'। पिछले एक दशक से भूख हड़ताल पर रह रही ईरोम शर्मिला के बारे में मीडिया कितने लोगों तक अपनी बात कह सका है ? मणिपुर की ईरोम शर्मिला इस अनशन के कारण अपना मातृत्व तक गवा चुकी हैं। पर एकाध पत्रिकाओं के स्त्री–विशेषांकों को छोड़कर शायद ही कहीं उनके बारे में सही

जानकारी मिल सके।

क्यों आज पत्रिकायें किसी एक अवसर पर बहुत चैतन्य दिखती है तो कहीं चुप्पी साध लेती हैं। एक और उदाहरण लेते हैं– उत्तरप्रदेश का। वहां स्त्री उत्पीड़न की घटनायें हैरान कर देने वाली है। सभी न्यूज चैनल, समाचार पत्रों–पत्रिकाओं में अचानक वहां की शासन–व्यवस्था, मानवाधिकारों के हनन की खबरें प्रकाशित की गयी। पहली नजर में देखें तो लगता है कि वहां की घटनाओं को पूरे देश में देखा जा रहा है, चिंता व्यक्त की जा रही है। लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से परखा जाए तो समझ में आयेगा कि इस दौरान जब सभी पत्र–पत्रिकायें उत्तरप्रदेश के स्त्री उत्पीड़न में चिन्तित नजर आ रही थी तो क्या देश के बाकी हिस्सों में कोई महिला किसी भी तरह के उत्पीड़न का शिकार नहीं हो रही थी ?

किसी भी मीडिया चैनल या पत्रिकाओं ने पूर्वोत्तर में हो रहे महिला उत्पीड़न के दो दशकों को इतना समय नहीं दिया जितना कि उत्तर प्रदेश के कुछ हफ्तों को। आशय यही है कि कि अवसर के प्रति नहीं समस्या के प्रति संवेदनशील बनना और उसे जिम्मेदारी के साथ लोगों के सामने लाना ही पत्रिकाओं का दायित्व है।

वैसे तो बहुत से वर्ग समूह आदि है जिनके मानवाधिकारों की चर्चा तक करना उचित नहीं समझा जाता। ऐसा ही एक वर्ग है– 'सफाई कर्मचारियों' का। यह सर्वविदित है कि मैला उठाने के आमनवीय कार्य पर कानून प्रतिबंध लगने के बाद भी यह प्रथा ज्यों की त्यों जारी है। सुप्रसिद्ध लेखक 'विष्णुप्रभाकर' कहते है कि – इक्कीसवीं सदी के भारत में आज भी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का मैला सिर पर उठाकर वैसे ही चलना पड़ता है जैसे वह युगों पूर्व चलता था। हिंदुस्तान को छोड़कर शोषण की ऐसी अमानवीय परम्परा दुनिया में और कहीं है ? शायद नहीं क्या इस परम्परा से मानवता शर्मसार नहीं होती ?

ऐसे में पत्रिकाओं की भूमिका बढ़ जाती है। रमणिका गुप्ता' के सम्पादन में प्रकाशित पत्रिका 'युद्धरत आम आदमी' दलित और आदिवासी समुदाय के अधिकारों पर जन–जागरण की मुहिम चला रही है। सुशासन की अवधारणा समतामूलक समाज पर टिकी है। जब देश के संसाधनों पर सभी का अधिकार होगा। सुखके साधनों पर सभी का अधिकार होगा तभी सुशासन की प्राप्ति सम्भव है। अंत में दिनकर के शब्दों में –

शांति नहीं तब तक, जब तक सुख भाग न नर का सम हो
नहीं किसी को बहुत अधिक हो नहीं किसी को कम हो।

* * * *

सूचना के अधिकार का भविष्य : एक मूल्यांकन*

डॉ. प्रतिभा

अभिजन के हाथों से आमजन के हाथों में सत्ता सौंपने की दिशा में प्रथम पग है 'सूचना का अधिकार'। किसी प्रजातांत्रिक शासन व्यवस्था में पारदर्शिता के अभाव में सरकारी कार्यक्रमों के लाभ आम जनता तक नहीं पहुँच सकेंगे। इस पारदर्शिता को लाने का सुगम मार्ग है 'सूचना का अधिकार'।

परंतु आश्चर्य का विषय है कि 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् अन्धकार से प्रकाश की यात्रा की कामना करने वाले भारत देश में नागरिको को अभिव्यक्ति और वाणी की स्वतंत्रता तो दी गयी है, किंतु जन–नीतियों तथा आय–व्यय के विवरण जानने का कोई कानूनी हक नहीं दिया गया। वस्तुतः 1923 के 'सरकारी गोपनीयता कानून' के कारण पूरी विकास प्रक्रिया गोपनीयता के एक आवरण में ढंकी थी और आम लोगों को प्रभावित करने वाली नीतियों के विषय में जानने का हक आम लोगों को ही नहीं था। आश्चर्यजनक रूप से औपनिवेशिक शासन के समय से चली आ रही ये गोपनीयता आजादी के छः दशकों तक अबाध रूप से चलती रही। सरकारी कामकाज में खुलेपन के अभाव में लोक–अधिकारियों के कार्यों में जवाबदेही की कमी और अक्षमता के कारण सत्ता का दुरूपयोग होता रहा और जनता का धन जन–विकास के कार्यों से हटकर सरकारी अधिकारियों के व्यक्तिगत कार्यों में उपयोग होता रहा। परिणाम अविकास और गरीबी के रूप में सामने आया।

प्रायः संसद और विधानसभाओं इत्यादि में भ्रष्टाचार के सम्बद्ध पूछे जाने पर यह कह कर सूचनाएं नहीं दी जाती थी कि यह सूचना गोपनीय है और देशहित में उसे सार्वजनिक नहीं किया जा सकता। बेहद गोपनीय और अपारदर्शी तंत्र में भ्रष्टाचार पनपता ही है, क्योंकि भ्रष्टाचार और गोपनीयता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वर्तमान

*दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

भारत में तो भ्रष्टाचार एक सामाजिक मूल्य के रूप में स्वीकृत हो गया है, जहाँ राजनेताओं,, अफसरों, उद्योगपतियों और अपराधियों के गठजोड़ से ऊपर से नीचे तक चलने वाला भ्रष्टाचार का दुष्चक्र समाज के संसाधनों का दुरूपयोग करता है। जो धन सार्वजनिक कार्यों में लगना चाहिए वह सत्तासीन लोगों की बंदरबाँट में समाप्त हो जाता है।

गोपनीयता की इस प्रवृत्ति और भष्टाचार के लिये समूचे तंत्र को पारदर्शी बनाने के लिए सूचना का अधिकार अत्यंत कारगर हथियार है। तंत्र में पारदर्शिता होने पर भ्रष्टाचार के लिये उर्वर जमीन तलाशना अत्यन्त मुश्किल हो जाता है। अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका 'न्यूज वीक' में प्रकाशित (1 जनवरी 1996) एक सर्वेक्षण के नतीजों के अनुसार पारदर्शिता के परिणामस्वरूप अपने नागरिकों को सूचना का अधिकार देने वाले देश सबसे कम भ्रष्ट हैं जबकि सूचना का अधिकार न देने वाले देश सबसे ज्यादा भ्रष्ट हैं।

सवाल करने और जवाब माँगने के इस अधिकार की आवाज बुलन्द करने वाले करीब 10 वर्षों के आन्दोलन के बाद भारत में सन् 2005 में केन्द्रीय स्तर पर सरकारी कामकाज में पारदर्शिता और प्रशासन में जवाबदेही सुनिश्चित करने वाला कानून (सूचना का अधिकार अधिनियम) लागू हुआ। लोक संस्थाओं के कामकाज के बारे में नागरिकों को जानकारी प्राप्त कराने के इस अधिकार के अन्तर्गत प्रभारी अधिकारियों को 30 दिन के भीतर तथा जीवन एवं स्वतंत्रता के मामले में 48 घंटे के भीतर आम नागरिकों के आवेदन पर वांछित दस्तावेज और प्रतिलिपियां उपलब्ध कराने का प्रावधान है। कोताही और शिथिलता बरतने वाले अधिकारी के विरूद्ध कठोर अनुशासनामक कार्यवाई करने का भी प्रावधान है।

दुनिया के अनेक देशों में सूचना के अधिकार से संबद्ध कानून है लेकिन भारत की खासियत यह है कि यहाँ इस अधिकार के लिये सर्वप्रथम निर्धन और अशिक्षित ग्रामीण जनता ने आवाज उठायी और बाद में जुझारू सामाजिक कार्यकर्त्ताओं ने इस आवाज में मिलाकर इसे और मजबूती तथा विश्वसनीयता प्रदान की। एक प्रकार से यह सरकार की ओर से कृपालु भेंट न होकर स्वयं उनके द्वारा ही अत्यंत श्रमपूर्वक तैयार किया गया सशक्त औजार है जिसके प्रयोग से वे सरकारी भ्रष्टाचार और नाइन्साफी पर रोक लगा सकते हैं।

निःसन्देह सूचना के इस अधिकार ने आम लोगों के इस संघर्ष को मजबूत आधार देते हुए सरकार पर नागरिकों का अधिकार बढ़ाया है और भारतीय लोकतंत्र को मजबूती की ओर अग्रसर किया है। अपने प्रारम्भिक दौर से ही इसकी गूँज पूरे भारत

में सुनायी देने लगी है। राजस्थान में अरूणा राय के मजदूर किसान शक्ति संगठन ने ग्रामीण विकास कार्यों में मस्टर रोल और बिल–वाउचर की प्रतिलिपियाँ हासिल कर अकाल राहत कार्यों में घोटालों का पर्दाफाश तथा मुकाबला किया तो दिल्ली में इस अधिकार का प्रयोग करते हुए केजरीवाल और उनके 'परिवर्तन' संगठन ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली में दशकों से चले आ रहे भ्रष्टाचार को जगजाहिर किया और पानी के निजीकरण को सफलता पूर्वक रोका। मुंबई के बुद्धिजीवी इस अधिकार के माध्यम से मुंबई नगर–निगम के ठेकों, निर्माण–कार्यों और भू–नीतियों में भ्रष्टाचार को जनता के सामने लाने में सफल रहे।

व्यक्तिगत रूप से भी अनेक मामलों में ग्रामीण विकास, सार्वजनिक वितरण, मानवाधिकार से जुड़े मुद्दों तथा जेलों में बंद विचाराधीन कैदियों, साम्प्रदायिक दंगों और समाज के वंचित–शोषित तबकों के विषय में इस अधिकार के माध्यम से अनेक प्रश्न सामने लाये गये। सारतः इस कानून के परिणामस्वरूप लोकसंस्थाएं ज्यादा, जवाबदेह हुईं और एक ओर इसने अधिकारपूर्ण नागरिक तो दूसरी ओर चौकन्नी, पारदर्शी, सक्षम, उत्तरदायी और जवाबदेह सरकार देने का काम किया है।

किंतु सूक्ष्म अवलोकन से सूचना के प्रदान और आदान दोनों ही स्तरों पर कुछ गुँजाइशें नजर आती हैं, जिन्हें चाहें तो एक एक्ट की कमी कह लें या हर परिस्थिति में रास्ते निकाल लेने की भारतीयों की मानसिकता।

यथा प्रदाता के स्तर पर :–

- फरियादी को सूचना प्राप्त करने के लिये स्वयं संबद्ध लोकसंस्था तक जाकर आवेदन की औपचारिकता पूर्ण करनी होती है। आवेदन के संबंध में कागजी कार्रवाई भी बहुत ज्यादा है।
- चूँकि कानून में गोपनीयता की व्यवस्था नहीं है अतः पहचाने जाने और तत्संबंधी दुष्परिणामों के डर से बहुत लोग अभी भी इस अधिकार का प्रयोग करने से डरते हैं।
- अनेक प्रसंगों में सूचना पर होने वाले खर्च को बढ़ा–चढ़ा कर बताया जाता है। छत्तीसगढ़ में धान से संबद्ध सूचना के आवेदन पर किसान को सूचना प्रदान करने का कुल बिल रु0 1,82,2000/– प्रस्तुत किया गया। वहीं पर बिलासपुर में शिक्षकों की भर्ती के संबंध में पूछी गयी सूचना पर सूचना का कुल खर्च रु0 75,000/– प्रस्तुत किया गया।

- वांछित सूचनाएं सही–सही न दी जाकर गोलमोल तरीके से दी जाती है।
- सूचनाएं निर्धारित समय–सीमा में न दी जाकर टाली जाती है, जब तक प्रश्नकर्ता का धैर्य ही न जवाब देने लगे।
- अनेक प्रकरणों में तो सूचना एकदम ही उपलब्ध नहीं कराई जाती।
- आवेदकों की तेजी से बढ़ती संख्या के मद्देनजर भी विशेष प्रयास नहीं किये गये हैं, जिससे ढाँचे के चरमराने की आशंका उत्पन्न हो गयी है।
- कई बार सूचना–कार्य के लिये नियुक्त अधिकारी जवाब देने के कार्य के लिये अपने मुख्य कार्य की अवहेलना कर बैठते हैं क्योंकि उस कार्य की अनदेखी और उपेक्षा के लिये किसी सजा का प्रावधान नहीं है जबकि सूचना के अधिकार से संबद्ध मामलों में सजा और जुर्माने का प्रावधान है।

अदाता के स्तर पर :–

अनेक बार सूचना के आकांक्षी ही इस कानून के दुरूपयोग की राह पकड़ते है। समर्थ तथा धनी लोग स्वयं के लिये निःशुल्क सूचनाएं प्राप्त करने हेतु गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का इस्तेमाल करते हैं, जिससे निःसन्देह 'सूचना का अधिकार' की भावना का हनन होता है।

तो सूचना का अधिकार का भविष्य और अधिक उज्वल हो, इसके लिये कुछ प्रयास किये जा सकते हैं, जैसे :–

- सर्वप्रथम सूचना देने की क्षमताओं का दुतरफा विस्तार हो। सूचना प्रदाता संस्थानों के स्तर पर– लोक अधिकारी एक विस्तृत 'सूचना प्रबंधन व्यवस्था' (IMS) बनाएं, जिसमें आँकड़ों तथा सूचनाओं के संग्रहण और अद्यतन (Update) की उचित व्यवस्था हो और उन्हें सब के साथ बाँटा जा सके। इसके लिये दस्तावेजों के कम्प्यूटराइजेशन तथा सूचना तकनीकी संसाधनों के प्रयोग को प्राथमिकता दी जाए। संस्थाओं के एतत्संबंधी अधिकारी प्रशिक्षित हों, जो सूचना सहभागिता की आम मांग के साथ न्याय कर सकने की क्षमता रखते हों।
- सवाल– जवाब प्रारम्भ होने पर पूरी प्रक्रिया हेतु एक मॉनिटरिंग एजेंसी हो, उपभोक्ता मंच जैसी, जहाँ न्यायालिका के साथ–साथ आम जनता का प्रतिनिधित्व हो। होना तो यह चाहिए कि मात्र जनता द्वारा मांगे जाने पर ही

उसे सूचनाएं न दी जाए बल्कि बिना मांगे भी संबद्ध सूचनाएं उस तक लगातार पहुँचती रहें। ऐसा इंटरनेट इत्यादि के माध्यम से आसानी से समय पर किया जा सकता है।

- एक कॉल सेंटर स्थापित किया जा सकता है, जहाँ मांगी प्रत्येक सूचना और उस पर की गयी कार्यवाई का पूरा विवरण हो (स्वयं सूचना अधिकारी द्वारा वे भी उस पूछे गये प्रश्न का विवरण कॉल सेंटर में प्रस्तुत किया जाये)। यह कॉल सेंटर समय–समय पर सूचना के इच्छुक व्यक्ति अथवा संस्था से पूछे कि क्या आपको मांगी गयी सूचना प्राप्त हुई ? क्या आप प्राप्त सूचना से संतुष्ट हैं ? संबद्ध कार्यालयों से भी पूछा जाये कि अमुक मांगी गयी सूचना पर अभी तक क्या कार्रवाई हुई। दुबारा सूचना मांगे जाने पर पूरी प्रक्रिया इस कॉल सेंटर की देखरेख में ही सम्पन्न हों। यह कॉल सेन्टर क्षेत्रीय स्तर पर स्थापित किये जा सकते हैं और इनके क्षेत्रीय कॉल सेन्टर्स के ऊपर मुख्य कॉल सेंटर स्थापित किया जा सकता है।
- देखा गया है कि लोक संस्थाओं में प्रायः वही व्यक्ति सूचना अधिकारी होता है, जिसको सूचनाएं छिपाने से पर्याप्त लाभ होता हैं, इसलिये सूचना अधिकारी किसी निष्पक्ष एवं स्वतंत्र (जिस पर कोई अन्य प्रभार न हो) व्यक्ति को बनाया जाये, इसके लिये केंद्र एवं राज्य सरकारों द्वारा अपने प्रत्येक विभाग में स्वतंत्र लोक सूचना विभाग खोले जा सकते हैं तथा इन विभागों में प्रत्यक्ष भर्ती प्रक्रिया के माध्यम से लोक सूचना अधिकारी नियुक्त किये जा सकते हैं यह विभाग सूचना का अधिकार के अन्तर्गत सूचना प्रदान करने के साथ–साथ विभाग की सूचनाओं आँकड़ों तथा वार्षिक प्रतिवेदनों का प्रसार–प्रचार सामान्य रूप से भी करे।
- झूठी जानकारी देना दण्डनीय अपराध हो।

सूचना का अधिकार, चाहे कितना ही प्रभावोत्पादक हो, है तो एक औजार ही, औजार की उत्पादकता तथा परिणाम इसे इस्तेमाल करने वाले की क्षमता, प्रतिभा और परिश्रम पर निर्भर करती है, इसलिये सूचना–अदाता के स्तर पर भी कुछ सुधार अपेक्षित है।

जैसे, गैर सरकारी संस्थाओं तथा व्यक्तियों की क्रमशः सामान्य और विशिष्ट सूचनाओं के संबद्ध माँगों के समुचित प्रबंधन का लयबद्ध प्रयास हो और सूचना

साक्षरता बढ़ाने हेतु सामूहिक जागरूता के प्रयास हों। लोगो को शिक्षित और प्रशिक्षित किया जाए कि क्या सूचना मांगी जाए और कैसे मांगी जाए ? इसके अतिरिक्त प्राप्त सूचनाओं का सर्वोत्तम उपयोग कैसे हो ताकि राजनैतिक और आर्थिक नीतियों में जन सहभागिता तय होकर भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाया जा सके। चूँकि भारत की 30 करोड़ निर्धन जनता के मात्र 10 प्रतिशत को सूचना का अधिकार के विषय में कुछ जानकारी है, अतः सरकार, गैर सरकारी संगठन तथा मीडिया को भी उन्हें शिक्षित–प्रशिक्षित करने का चुनौतीयपूर्ण दायित्व लेना होगा। आंदोलनकारी समूह भी अपने प्रश्नों को और धारदार बनाएं जिससे व्यवस्थाएं उन्हें सूचनाएं देने के लिये विवश हो जाए।

उल्लेखनीय तथ्य यह भी है कि वर्तमान में सूचना का अधिकार प्रायः प्रशासनिक कार्यों, फैसलों तथा प्रक्रियाओं से जुड़ा है होना यह चाहिए कि सभी पक्षों से इसका जुड़ाव हो। इसका विस्तार कर इसके दायरे में लिमिटेड संस्थानों इत्यादि को भी लाया जाए।

इस प्रकार सभी व्यक्तियों को अधिकाधिक जानकारी मिले, सवाल–जवाब का एक सिलसिला कायम हो और आमजन प्रशासन को पारदर्शिता के आइने में देख सके तभी सूचना के अधिकार का भविष्य सार्थक होगा और सच्चे जनतंत्र वाले भारत के आमजन का भविष्य भी स्वर्णिम आभा से युक्त होगा :–

उस पार है उम्मीदों और उजास से भरी दुनिया
अंधेरा तो बस देहरी के इस पार था।

संदर्भ :–

1. अरूण पांडेयः हमारा लोकतंत्र और जानने का अधिकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001 ।
2. डॉ0 बसंती लाल बावेलः सूचना का अधिकार, राजस्थान पत्रिका, 3 फरवरी 2001 ।
3. प्रेस परिषद द्वारा 1996 में तैयार किंतु संशोधित मॉडल की धारा 2 ।
4. राजस्थान सूचना का अधिकार अधिनियम 2000।
5. आउटलुक साप्ताहिक, 6 जून 2005 ।
6. योजना, जनवरी 2007 ।

7. कुरूक्षेत्र, जुलाई 2005 ।

8. सी.एम. बिन्दल एवं अंशु बिन्दलः द राइट जव इन्फॉरमेशन एक्ट 2005, स्नोव्हाइट पब्लि. प्रा. लि., मुंबई।

9. Economic & Political Weekly, March 03.09.2007 Vol XLII NO. 9.

10. मीडिया, केन्द्रीय हिंदी संस्थान त्रैमासिका प्रवेशांक अप्रैल – जून 2006 केन्द्रीय हिंदी संस्थान, दिल्ली केंद्र (मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार)।

* * * *

तृतीय खंड – साहित्य

भोजपुरी साहित्य में मानव अधिकार की संकल्पना*

प्रो0 अरूणेश 'नीरन'

भोजपुरी के लोकसाहित्य या सर्जनात्मक साहित्य में न तो मानव की, न ही उसके अधिकारों की चर्चा अलग से है। सच तो यह है कि 'कुछ भी' को अलग अपने अनुभव में लाना लोक के स्वभाव में ही नहीं है। मनुष्य, लोक में पशु–पक्षी, पेड़–पौधे, नदी–पहाड़ सब के साथ है, सब का साझेदार है। उसके अधिकार इन सबके अधिकारों को काट कर नहीं है, इन सबके साथ बाँट कर है। लोक में चर–अचर सब आते हैं। सबके साथ साझेदारी की भावना लोक दृष्टि है। सबको साथ लेकर चलना लोक–संग्रह है और इन सब के बीच जीना लोक यात्रा है।

वह एक फुदकती हुई चिड़िया है जो 'का खाऊँ का पीऊँ, का लेके परदेस जाऊँ' के सवाल के साथ अपने अधिकारों के रास्ते में अड़े बढ़ई, राजा, रानी, साँप, लाठी, आग, सागर, भँवर, हाथी, चूहे– सबसे टकराती है, किसलिए ? दाल के सिर्फ एक दाने के लिए, जो उसका हिस्सा है, जिसे जाँते (चक्की) ने चुरा लिया है जिस चोरी के खिलाफ कोई उसके साथ खड़ा नही होता, क्योंकि किसी की नजर में वह उस चिड़िया का अधिकार नहीं है– महज एक दाना है। बढ़ई, राजा–रानी, सांप, लाठी–व्यवस्था की यह जो समझ है, कि चिड़िया जैसे किसी कमजोर के लिए, एक दाना दाल जितने कम जिन्स के लिए उठ खड़े होने में उनकी हेठी है– इसे मानवाधिकार के बुनियाद सूत्र के रूप में समझ जा सकता है।

यह एक पक्ष है। एक दूसरा पक्ष यह है कि नीम की डाल पर झूला झूलती शीतला माँ को प्यास लगती है तो पानी पीने वे मालिन के पास पहुँचती हैं। पहुँच कर अपने देवी–देवता

होने के ताव में पानी नहीं मांगती, मांगती हैं बड़े मनुहार से :–

***हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

सूतल बाडू कि जागल ए मालिन
बून एकऽ पानिया पियावऽ ए मालिन
उधर मालिन पर मइया के माइया होने का कोई रोब नहीं पड़ता :–
कइसे हम पनिया पियाई ए सीतल मइया
मोरे गोदिया, दीहल बलका तोहार हो

जल से तृप्त मइया से अपने लिए कुछ भी मांग लेने का एक दुर्लभ अवसर है मालिन के पास, लेकिन इसका उपयोग वह पूरे नगर कर कुशल–कामना के लिए करती है :–

पनिया तऽ पियलू मइया, पाटे चढ़ि बइठड
कि बोलऽ मइया, ई नगरिया कुसलात हो

और तब मालिन को जो मिलता है, बिना मांगे मिलता है। लेकिन ऐसा तब होता है और तभी है जब मइया ऐसी मइया हो और मालिन ऐसी मालिन हो। मइया 'मिनरल वाटर' लेकर किसी पंच– सितारा के लॉन में न झूलती हो और मालिन को हाकिम हुक्काम आहट पाते ही गोद से बच्चे को उतार कर दौड़ पड़ने की आदत न हो।

एक पक्ष यह भी है कि सामंतवादियों का अपने अधिकारों का ऐसा मद है कि वह उसके सामने किसी का कद नहीं देखता। कौशल्या और हिरणी वाले प्रसिद्ध सोहर में कौशल्या की पुत्र–प्राप्ति के सुख के सामने हिरणी के प्रिय के वध के दुख का कोई मूल्य नहीं। हिरणी को अपने प्रिय की 'खलदी' पाने का भी अधिकार नहीं है। राजा के बेटे का छट्ठिहार है। हिरनी अपने हिरन के संभावित वध को लेकर चिन्तित है। रात्रि भोज में अतिथियों के मांसाहार के लिए उसका हिरन भी पकड़ लिया गया है। कौशल्या उसकी उदासी का कारण पूछती हैं तो वह कारण बता कर हिरण को प्राणदान देने की प्रार्थना करती है। कौशल्या के न मानने पर वह हिरन की खाल मांगती है। कौशल्या इस प्रार्थना को अस्वीकार करती हुई कहती हैं :–

जाहु हरिनी घर अपने, खलरइया नाहीं देइब हो
हरिनी खलदी के खजरी मढ़इबो
ललन मोर खेलिहनि हो .....

तब हरिणी के मुहँ से शाप घहराता हुआ आता है, किसी अमोघ मंत्र की तरह, और पूरा का पूरा तंत्र धराशायी हो जाता है :–

जइसे मोर सून मधुबनवा त एक रे हरिन बिनु
रानी तइसे सून होइहें अजुधवा त एक रे रमइया बिनु

हम कहना चाहते हैं कि वह शाप आज भी कायम है। आयोध्या आज भी अभिशप्त है। सच पूछा जाय तो इस प्रतीक कथा में जो अंतर्कथा है वह संकेत करती है कि सामंती व्यवस्था श्रमजीवी वर्ग का इस सीमा तक शोषण करती है कि उसका अस्तित्व ही मिट जाता है। यही नहीं; वह व्यवस्था उसके बचे–खुचे अवशेषों का भी उपयोग करना चाहती है। यह शाप केवल हिरणी का शाप नहीं हैं बल्कि निरंकुश राजसत्ता के विरोध में उठा हुआ प्रतिरोध का स्वर है।

एक पक्ष यह भी है कि अधिकारों की बात ही न करें, कर्तव्यों का पालन करते चलें। भोजपुरी लोक का मानना है कि इस आदर्श से भी काम नहीं चलता कुएँ खुदवा दिये, बाग लगवा दिये और इस तरह हो गया कर्त्तव्य का पालन और मिल गया अधिकार–जिसको जो मिलना था, ऐसा नहीं है :–

कुँअवा खनवले कवन फल, सुनऽ हो राजा दशरथ
झोंझवन भरे पनिहारिन, तबही फल होइहें
बगिया लगवले कवन फल, सुनऽ हो राजा दशरथ
राहे–बाटे अमवा जे खइहें, तबही फल होइहें

फल की इस चिंता को 'मा फलेषु कदाचन' के पलटपाठ के रूप में स्थापित करने के उत्साह के बजाय सह–पाठ के रूप में आयोजित करने का उद्योग होना चाहिए। यह वेद के पूरक के रूप में लोक का पक्ष हैं। एक फल की चिन्ता से बरी रहने को कहता है, दूसरा फल की चिन्ता को गहे रखने को कहता है। यही चेतना अधिकार के प्रति सचेत करती है :–

कमवा करत तोर गोड़वा पिरइलें
रुपया के मुँह नाही देखले रे पियवा

यही चेतना प्रतिरोध का मन बनाती है, उसका बल घटाती है। यह प्रतिरोध किसी के, किसी तरह के दुख को अनकहा नहीं रह जाने देने तक के मन्सूबे में व्यक्त होता है।

शब्द से भाषा बनती है लेकिन शब्द भाषा नहीं है। इसी प्रकार भाषा में साहित्य लिखा जाता है, पर भाषा साहित्य नहीं है। तब वह कौन–सी चीज जो भाषा को साहित्य बना देती है ? वह है अपनी समस्याओं से लड़ता हुआ मनुष्य। जब मनुष्य

अपनी वेदना संवेदना और प्रार्थना के साथ भाषा में प्रवेश करता है, तब भाषा साहित्य बनती है। भोजपुरी की एक लोककथा का नायक 'सुआ' पेड़ पर रहता है, जिसमें किसी का हृदय बसता है। और ऐसा बसता है कि एक को छूने पर दूसरा तड़पने लगता है– तब भाषा साहित्य बनती है, भोजपुरी अभिजन की भाषा नहीं, जन की बानी है। भाषा में दार्शनिक बोलता है, संत बोल में गाता है। दार्शनिक से संत महान होता है। क्योंकि तर्क के प्रभाव से दर्शन ऊपर की ओर बढ़ता है जबकि संतों की बानी लहर की तरह फैल कर ढाई आखर वाले प्रेम को अपनी अंकवार में भर लेती है। गोरख, भरथरी, कबीर, रैदास, सुंदरदास, धरमदास, धरनीदास दरिया साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब और लक्ष्मी सखी जैसे संत्तों की परम्परा भोजपुरी की परम्परा है। जहाँ अन्त्यज जातियों से आये हुए ये संत अनपढ़ जरूर हैं लेकिन ज्ञानी हैं और पूरी शक्ति के साथ वेदमत के विरूद्ध लोकमत के साथ खड़े हैं और अभिजन के विरूद्ध जन की लड़ाई लड़ रहे हैं।

इनके साथ खड़ा है वह लोक काव्य जो जनकाव्य है, जिसमें लोकजीवन के उल्लास, उछाह, हूक, हुलास, संस्कृति–बोध, प्रेम, विरह यथार्थ, संघर्ष आदि की मार्मिक व्यंजना मिलती है। विरहा, कजरी, चैता, फगुआ, कहरवा, बारहमासा जैसे पुरूष प्रधान गीतों के साथ–साथ सोहर, झूमर, संझापराती, जेवनाट, जँतसार, गारी, छठ, बहुरा, पिड़िया नागपंचमी और संस्कारों में गाये जाने वाले नारी प्रधान गीत लोक जीवन का समग्र रूप प्रस्तुत करते हैं। ये गीत प्रतिरोध के गीत है।, मनुष्य की सत्ता– उसके अधिकारों की रक्षा करने वाले गीत हैं। जँतसार गीत इसके उदाहरण हैं। एक गीत में बहन भाई को बुलाती है। भाई के पास रास्ते के भयानक होने का बहाना है। बहन तलवार लेकर आने का उपाय सुझती है। भाई से कौर नहीं उठता जब वह देखता है कि अत्याचारों से त्रस्त चांद–सूरज जैसी उसकी बहन कोयले जैसी हो गयी है। बहन एकांत में ले जाती है उसे, अपने सारे दुख कह देने के लिए :–

भइया! मन भर कूटी; मन पीसे ला हो ना
भइया! मन भर दीन्हीं–ला रसोइया हो ना
सासु खांची भर बर्त्तनवा मंजावेली हो ना
सासु पनिया पात्ताल से भरावेली हो ना
भइया! सबके खियाई के पियाई के हो ना
भइया! बांचि जाला पिछली टिकरिया हो ना
भइया, ओहू में से ननदी के कलेडवा हो ना

भइया, ओहू में से गोरख चखहवा हो ना
भइया, ओहू में से कुकुरा बिलरिया हो ना
भइया, ओहू में से देवरा कलेउआ हो ना!

ढेर सारे दुख और कुछ नहीं, सिर्फ भाई से कह देना है। भाई बस इतना करे कि इन दुखों की मोटरी बाँधे और नदी में प्रवाहित कर दे। साथ में यह भी, कि किस–किस से यह दुख नहीं कहता है। भऊजी से नहीं; क्योंकि वह दो–चार घर जाकर कह आयेगी। माँ से भी नहीं; क्योंकि उसकी छाती फट जायेगी। चाची से नही; क्योंकि वह ताने देगी। बहन से नहीं; क्योंकि वह ससुराल जाने का नाम नहीं लेगी। पिता से भी नहीं; क्योंकि वह सभा–बीच रोने लगेंगे। लेकिन ऐसा भी नहीं कि किसी से भी नहीं कहना है। अगुआ से जरूर जिसमें मेरे विवाह की अगुवाई की। ब्राह्मण से जरूर कहना जिसने ऐसे विवाह का लग्न–विचार किया और वर–वधू की कुण्डली मिलाई।

भोजपुरी लोक के पास अधिकार की जो चेतना है, वह अँखमुँद कतई नहीं है। वह भीड़–भाड़ वाली भी नहीं है। उसके पास यह समझ है कि कहाँ, कैसे, किससे और क्यों कहना है, कहाँ, किससे और क्यों नहीं कहना है ? भोजपुरी साहित्य का सबसे महत्वपूर्ण बड़ा और असरदार तत्व है प्रतिरोध। भोजपुरी संस्कृति प्रतिरोध की संस्कृति है वह बोलती भी है, चुप भी रहती है। प्रतिरोध सत्ता से, शक्ति से, व्यवस्था से, गैर से, स्वयं से। भोजपुरी का लोक साहित्य और सर्जनात्मक साहित्य प्रतिरोध की इसी संस्कृति से सृजित और विकसित हुआ है।

सन् 1914 में पटना के हीरा डोम की अछूत की शिकायत कविता 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। इस भोजपुरी कविता ने संत्तों द्वारा चलाये गये दलित विमर्श की परम्परा को आगे बढ़ाया। मानवाधिकार से वंचित हीरा डोम का यह प्रतिरोध उस धार्मिक–समाजिक व्यवस्था से है जिसमे मनुष्य से उसके जीने का अधिकार छीन लिया है। हीरा डोम सीधे आस्था–पुरूष से शिकायत करते हैं :–

हड़वा मसुइया के देहिया ह हमनी के
ओकरे के देहिया बभनओ के बानी
ओकरा के घर–घर पुजवा होखत बाजे
सारे इलकवा भइलें जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जां
पाँके में से भरि–भरि पियतानी पानी

पनही से पीटि–पीटि हाथ–गोड़ तरि देले
हमनी के एतनी काहे के हलकानी।

भोजपुरी के आधुनिक काल के महानतम कवि–नाटककार भिखारी ठाकुर स्वयं दलित थे नाई जाति के/निरक्षर और अध्ययनशून्य। लेकिन समाज की पाठशाला से निकले अक्षर पुरूष निरक्षर/साक्षर भिखारी ठाकुर ने विभिन्न लोकनाटकों की रचना की तो उनके सामने समाज का वही दलित, अशिक्षित, उपेक्षित, अधिकारविहीन वर्ग था, जिस वर्ग से वे आये थे। उन्होने जो लोक–मंडली बनायी उसके अधिकांश सदस्य दलित और पिछड़े वर्ग के थे। उनके पात्रों के नाम भी ऐसे हैं जो दलित वर्ग में ही पाये जाते हैं जैसे उपदर, उदवास, चेथरू, चटक, अखजो, लोभा आदि। बाल विवाह, अनमेल विवाह, संयुक्त परिवार का विघटन, अपराध, चोरी, जुआ, मद्यपान, बहुविवाह आदि समस्याओं से दलित वर्ग घिरा हुआ था। इसलिए उनमें यह चेतना विकसित नहीं हुई थी कि अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करें। वे एक शैली बन गये और भोजपुरी क्षेत्र के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महा नायक। अपने वजूद की रक्षा के लिए, मनुष्य के अधिकारों को छीनने वाले हाथों को चुनौती देने के लिए/भोजपुरी स्त्री और दलित विमर्श का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि भोजपुरी में स्त्री की बात ने स्त्री उठाई है और दलित की बात दलितों ने। लोकसाहित्य और सर्जनात्मक साहित्य, दोनों में, यह परम्परा समानान्तर चलती है। भोजपुरी में दलित –विमर्श कबीर से शुरू होता है और स्त्री–विमर्श तब से, जब से लोक गीतों का आरम्भ हुआ। भारतीय भाषाओं में मनुष्य के अधिकारों की लड़ाई लड़ने का सर्जनात्मक हस्तक्षेप भोजपुरी में सात सौ साल पुराना है।

एक लोक कथा पर आपका ध्यान आकृष्ट कर करते हुए अपनी बात समाप्त करने की अनुमति चाहता हूँ –एक बुढ़िया थी। वह हाथ–गोड़ जला कर रसोई बना रही थी। एक चूहा आया। देखा गीली लकड़ी से खाना नहीं बन पा रहा है। वह दौड़ कर गया और सूखी लकड़ी लाकर बुढ़िया को दे गया। बुढ़िया ने चाँद–सी रोटी बनायी। चूहे ने एक रोटी माँग ली और वहां से चला। रास्ते में कुम्हार मिला। वह भूखा था। चूहे ने रोटी दी और कुम्हार ने मटका दिया। ग्वालिन मिली, उसे मटका देकर मक्खन लिया। सूखी रोटी खा रहे चरवाहे को मक्खन दिया और उसके बैल पर बैठ कर चल दिया। बोझ ढोते धोबी को देखकर उसे बैल देकर कपड़े ले लिये और कुरता–धोती–टोपी पहन कर राजा के महल में पहुँचा। राजा उस समय हजामत बनवा रहा था। चूहा बोला, 'हमरे माथे पर टोपी! राजा बाटे मुण्डा?' राजा ने नाराज होकर

हुक्म दिया; 'उतार ले टोपी'। चूहा बोला ' राजा भिख मंगा, ले लिहलस हमार टोपी।' इस कथा में हाथ–गोड़ जरा कर रसोई बनाने वाली बुढ़िया, कुम्हार, ग्वालिन, चरवाहा, धोबी–सब मजदूर वर्ग से आते हैं और सभी देते हैं। केवल राजा छीनता है गरीब की टोपी! कौशल्या की हिरनी हो जिसे हिरन की खाल भी नहीं मिलती या चूहे का राजा जो गरीब कर टोपी उतार लेता है, दोनों उस सामंतवाद से लड़ते हैं जो मनुष्य के अधिकारों को छीनता है। तब इसी लोक के शाप से अयोध्या उदास हो जाती है और आज तक उदास है।

* * * *

सूचना का अधिकार और साहित्य*

प्रो0 अरूणेश 'नीरन'

प्रत्यक्ष लोकतंत्र पर आधारित हमारी शासन प्रणाली के इस नये प्रयोग ने लोकतांत्रिक ढ़ग से तानाशाही चलाने वाले शासक वर्ग को सावधान तो किया ही है नागरिकों को अपार अवसर भी दिया है। कोई भी व्यवस्था रही हो – राजशाही, तानाशाही, लोकशाही –सबने जनता को शासित मान कर अपने किसी भी कृत्य के बारे में उसे जानने का अधिकार नहीं दिया है। हमारे यहाँ भी अंग्रेजों ने सन् 1923 में जो गोपनीयता कानून बनाया वह भारत गणतंत्र में भी लागू रहा। क्योंकि यही कानून था जो लोकतंत्र में भी शासन व्यवस्था को राजा की तरह व्यवहार करने की खुली छूट दे रहा था। पूंजी, पार्टी, पावर ने लोकसेवक को लोकतांत्रिक राजा बना दिया। इस तंत्र ने पांच साल में एक वोट ओर देने अधिकार देकर हमारे मानवाधिकारों का लगातार हनन किया और गोपनीयता कानून की ओट में बचते रहें।

हर सत्ता संवाद से बचती है। इसीलिए वह संवाद की स्थिति बनने ही नहीं देना चाहती। साहित्य संवाद करता है इसलिए सत्ता को बंदूक से उतना भय नहीं होता जितना संस्कृतिकर्मी से होता है। क्योंकि बंदूक एक स्थूल चीज है और उसका मुकाबला बंदूक से किया जा सकता है लेकिन संस्कृति की धारा सूक्ष्म होती है, वह चेतना की तहों में फैल जाती है ओर खून में मिलकर उसके साथ दौड़ने लगती है। जब लेखक शब्दों से जुड़ता है तो शब्द संस्कृति का हिस्सा बन जाते हैं। जब लेखक लिखता है या गायक गाता है या नर्तक अभिनय, गति, ताल, लय, पर थिरकता है :– तो वह उन शब्दों को उनकी ताकत की गहराई को दिखाता है। शासन तंत्र शब्दों को भी फूलों की माला की तरह पहनता है फिर उसे सूखने के लिए सभा की सेज पर छोड़ कर चला जाता है।

सत्ता समाज की रक्षा के लिए है और संस्कृति समाज का पोषण करती है।

---

*दिल्ली में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

संस्कृति एक पौधा है जिसे बचाने के लिए सत्ता बाड़ है। लेकिन जब बाड़ ही पौधे को खाने लगे, बजाये उसे घेर कर उसकी रक्षा करने के, तो क्या होगा तब सत्ता के इस कुरूप पक्ष से साहित्य की लोक धारा लड़ती है। राजाओं, मठों और सम्प्रदायों में रहने वाले कवि–कलाकार यदि सत्ता का विरोध न करके, उनकी प्रशस्ति गाकर, इष्टदेवों और मार्गों से जुड़कर कुछ जीवन मूल्यों और जीवन रस का सृजन कर शास्त्रीय बने रहे और उनके द्वारा पोषित रहे, तो लोकधारा के कवि कलाकार सत्ता का विरोध और उसके अन्यायी और अत्याचारी शासन का विरोध कर दंडित होते रहे, मृत्युदंड पाते रहे। राजस्थान के खपाल कलाकार इसके उदाहरण हैं।

आज न मठ हैं, न सम्प्रदाय, न राजा/आज लोकशाही है। लोकतांत्रिक राजाओं ने सत्ता को पूरी तरह भ्रष्ट बना दिया है और अपना विश्वास खो दिया है। मंहगाई, अशिक्षा, अंधविश्वास, जातिवाद, साम्प्रदायिकता यह सब इस देश में अपने आप नहीं टिकी हैं, इन्हें सत्ता ने टिका रखा हैं। क्योंकि यह सब मनुष्य को असुरक्षित रखते हैं। सत्ता चाहती है कि इस देश का आम आदमी अपने को असुरक्षित समझता रहे और वह सुरक्षा के नाम पर अपना हित साधती रहे। इसी रहे। इसी तरह बाड़ पौधे को खाती है।

यह विडंबना ही है कि अखबार, जो गोपनीयता की आड़ में मानवाधिकारों और जीवन मूल्यों पर आक्रमण करने वाली सत्ता के चरित्र का एक छोटा अंश सामने लाते हैं और जनता के सामने उनके छद्म को खोलते हैं तो सत्ता डर जाती है। अतीत में लोकशाही के द्वारा तमिलनाडु, उड़ीसा और बिहार में लाये गये प्रेस विधेयक इसके उदाहरण हैं। अभिव्यक्ति की आजादी भी क्यों सत्ता की स्वीकार नहीं।

गोपनीयता की ओर में मनुष्यता को गुमराह करने वाली राजनीतिक शक्तियों की वितक्ता साहित्य गहराई से महसूस करता है और उन मुखौटों को उतारता है, जिन्हें लगा कर देश युद्ध, हिंसा, विध्वंस का नाटक खेलते और मनुष्य की आजादी का अपहरण करते हैं। सत्ता अपने नागरिकों को वही सूचनाएं देती है जिससे उसका खेल चलता रहे। साहित्य सूचना के भीतर की सूचना देता है। सूचना के भीतर की सूचना सामान्य नागरिक की बेधक दशा–दिशा का आइना होती है और सत्ता तंत्र के ढोंग की तार–तार कर देती है। इसीलिए सभी प्रकार की सत्ताएँ इससे डरती हैं।

फिलहाल स्थिति यह है कि ब्रिटिश इंडिया के जमाने में सत्ता का जो दुर्ग बना था। उसी में प्रजातांत्रिक व्यवस्था के द्वारा चुने गये लोग भी निवास करते हैं और शासक–वर्ग के चरित्र को बदलने की जगह उन्होने अपना चरित्र बदल लिया हैं जब

तक प्रजातंत्र है, यह बेशुमार भीड़–भाड़ और दुर्ग के भीतर जाने की आस है– तब तक ढर्रा बदल जायेगा, यह कहना मुश्किल है। मुश्किल इसीलिए भी है कि सत्ता के इस दुर्ग को तोड़ने का संकल्प लेकर जो लोग आते हैं, वे भी अंदर बुला लिए जाते हैं और तब वे नरम पड़कर यथास्थिति में अंग बन जाते हैं। वामपंथियों से लेकर मध्यममार्गियों और दक्षिणपंथियों तक सभी इस दुर्ग के भीतर हैं। उनका आपसी संघर्ष–सारा इंट्रा–एलीट संघर्ष है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि स्वाधीनता के बाद भारत में राजनीतिक चेतना का बेहद विकास हुआ है। भले ही इस चेतना का अर्थ हो– 'लूट सके तो लूट'। लूट चेतना के रूप में ही सही, राजनैतिक जागृति हमारे यहाँ खूब फैली है। सन् 1946 की तुलना में कहीं ज्यादा बड़ी आबादी आज राज्य के जहाज को संचालित कर रही है। पंचायत्तों, सरकारी समितियों, चुनावी मशीनों, ट्रेड–युनियनों, सरकारी नौकरियों से अक्षरशः करोड़ों लोग जुड़े हैं। यह व्यवस्था तभी टूटेगी, जब भीड़ के दबाव से उसका टिकना असंभव हो जाए। इसी दबाव के कारण सूचना के अधिकार का अधिनियम बन और लागू हो पाया है। यह लोकतांत्रिक राजा के अंत का आरम्भ है।

साहित्य यह कार्य बहुत पहले से करता आ रहा है। अब सरकार सूचना दे रही है। अपने नागरिकों को/साहित्य सरकार को सूचना देता रहा है। सन् 1914 में पटना के हीरा डोम ने महावीर प्रसाद द्विवेदी को एक कविता भेजी थी, 'अछूत की शिकायते, 'सरस्वती' में प्रकाशित इस भोजपुरी कविता ने संतों द्वारा आरम्भ किये गये दलित विमर्श की परम्परा को आगे बढ़ाया। मानवाधिकारों से वंचित हीरा डोम का यह प्रतिरोध उस धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था से था जिसमें मनुष्य से उसके जीने का अधिकार छीन लिया। वे आस्था पुरूष से शिकायत करते हैं :–

हडवा मसुइया के देहिया हड् हमनी के
ओकरे के देहिया वभनओ के बानी
ओकरा के घर–घर पुनवा होखत बाजे
सारे इलकवा भइलें जजमानी।
हमनी के इनरा के निगिचे न जाइले जां
पाके में से भार–भार पियतानी पानी
पनही से पीट–पीट हाथ–गोड़ तार देले
हमनी के एतनी काहे के हलकानी।

एक दलित चीत्कार कर सूचना दे रहा था उस समाज को जिसने यह व्यवस्था

बनायी, उस तंत्र को, जो उसे इस व्यवस्था को मुक्त नहीं करा सका, और उस ईश्वर को, जिसके नाम पर समाज और तंत्र ने इसे मजबूत बनाया।

साहित्य सामाजिक व्यवस्था को जांचता है, इसमें प्रश्नचिन्ह लगाता है। उसकी जड़ता, उसकी गतिहीनता, उसकी निर्ममता और उसकी विसंगति मनुष्य की कितना तोड़ रहे हैं, यह अनुभव उसी समाज से बंटाना चाहता है, जिसमें यह व्यवस्था है। राजनीतिक व्यवस्था के उस छल को, जो वह भाषा के जरिये करती है या उस सूचना को, जो शब्दमात्र होती हैं – शब्द के अर्थ, उसकी संवेदना और उसकी संभावना से रहित– साहित्य, शब्द को उसके पूरे अर्थ और संभावना के साथ तथा सूचना को उसके भीतर की सूचना के साथ उपस्थित कर देता है। इसलिए सत्ताएं साहित्य से डरती रही हैं।

लेकिन समाज के लिए व्यवस्था जरूरी है। उसकी गति के लिए भी आवश्यक है। इस व्यवस्था को मानकर चलना होता है। व्यवस्था के लिए ही राज्य है और उसकी राजनीति है। साहित्य सामाजिक, राजनीतिक ही नहीं, उन सारी व्यवस्थाओं को जांचता है जो मनुष्य के सरोकार से जुड़ी हैं साहित्य प्रश्न खड़े करता है, उसकी जड़ता, गतिहीनता, उसकी निर्ममता और उसकी विसंगतियाँ मनुष्य को कितना तोड़ रही हैं यह अनुभव उसी समाज से बंटाना चाहता है, जिसमें यह व्यवस्था है। व्यवस्था के भीतर पिसते मनुष्य की चीख को सूचना वह व्यवस्था को, और संविधान, विधान, फरमान को भीतर की सूचना मनुष्य को देता है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्था को बदलने का काम साहित्य नहीं करता, वह केवल बदलाव के लिए मन में उद्देश्य पैदा करता है। जब व्यवस्था में जड़ता आने लगती है, स्वैच्छारिता आने लगती है, परस्पर–अवलंबी भाव चुकने लगता है, समाज का मंगल इसका लक्ष्य न रह कर यह अपने लिए स्वयं लक्ष्य होने लगती हैं तब इसे धर्म छेड़ता है, दर्शन छेड़ता हैं और साहित्य छेड़ता है। व्यवस्था प्रश्नों से घिर कर संदिग्ध हो जाती है।

साहित्य की सृष्टि न व्यक्ति में होती है, न समाज में होती है। साहित्य व्यवस्था में जन्म ही नहीं लेता वह जन्म लेता है चित्त की विचित्र अव्यवस्था में, जिसमें, सारी व्यवस्था एक घूमने वाले रंगमंच की तरह घूमती रहती है। साहित्य की सृष्टि केवल समाज की व्यवस्था पर प्रश्न नहीं करती, वह व्यक्ति द्वारा स्वीकृत या गृहीत व्यवस्था पर भी प्रश्न करती है और उत्तर भी पाना चाहती है तो समाज के लिए नहीं, समाज को समोये हुए अपने व्यक्ति के लिए।

व्यवस्था और लोक में विश्वास होता है तभी देश उन्नति करता है। वह समाज सृजन करता है। व्यवस्था को राजनीति संचालित करती है। राजनीति के लिए नीति और सिद्धांत महत्वपूर्ण हैं। इन्ही नीतियों और सिद्धांतों के आधार पर राजनीति को लोक का विश्वास प्राप्त होता है। जब तक राजनीति लोक के विश्वास के प्रति सचेत रहती है तब तक व्यवस्था लोक– कल्याणकारी रहती है। आज लोक विश्वासघात का शिकार हो रहा है और राजनीति विकृता। यह विकृति किसी एक दल या एक व्यक्ति के साथ नहीं है। धीरे–धीरे इसने अपने को इतना व्यापक बना लिया है कि सभी का कुल गोत्र एक हो गया है। अब राजनीति पर विश्वास करने का लोक के पास कोई कारण नजर नहीं आता। राजनीतिज्ञों को ही नीतियों और सिद्धांतों पर भरोसा नहीं रह गया है। वे खुद ही संशय में काम कर रहे हैं। जब भी संशय घेरता है, सकारात्मकता नष्ट होती है। साहित्य इस सकारात्मकता को बचाता है। सूचना के अधिकार का अधिनियम भी इसी सकारात्मकता को बचाने का एक प्रभावी प्रयास है।

* * * *

साहित्य, मानव अधिकार और पंचायतें*

डा0 कुमुद शर्मा

विश्व भर में 'लेखक के अंत' की घोषणाओं के साथ–साथ 'मनुष्य के अंत' की घोषणाएं भी हो चुकी हैं। मिशेल फूको की सोच है कि ' समुद्र के किनारे बनाए गए चेहरे की तरह मनुष्य का निशान मिट जायेगा। लुई आल्थ्युजर भी कह चुके हैं कि 'मानव प्राणी में विश्वास एक घोर ज्ञान–मीमांसीय अनर्थकारी और बुर्जुआ विचारधारा का एक मिथक है।' अपने–अपने बौद्धिक आग्रहों और विमर्शों में इस तरह मानववाद की आलोचनाओं के बावजूद मनुष्य की गरिमा का सवाल, उसकी स्वाधीनता का सवाल उसकी सुरक्षा का सवाल मौजूदा सदी के बड़े सवाल हैं।

आज मनुष्य के चारों और व्यापक हलचल है, शोरगुल है। हाईटेक संचार–माध्यमों की साम्राज्यवादी, वर्चस्ववादी आधुनिकता का प्रचार–प्रसार है। इन सबके बीच मनुष्य का मनुष्य पर से भरोसा उठ गया है। व्यवस्था से भरोसा उठ गया है। राजनीति का तन्त्रिका तंत्र आम आदमी की अस्मिता को कुचल रहा है। संदेह, भय, असुरक्षा, दबाव और तनाव के चलते व्यक्ति भावात्मक स्तर पर ही नहीं शारीरिक रूप से भी असुरक्षित होता चला जा रहा है। व्यापार, राजनीति, अर्थव्यवस्था और वैश्विक मामलों में संघर्ष की स्थितियाँ बन रही हैं।

प्रेमचंद ने कभी कहा था कि 'साहित्य राजनीति के पीछे चलने वाली चीज नहीं हैं, जो उससे आगे चलने वाला एडवांस गार्ड है वह विद्रोह का नाम है जो मनुष्य के हृदय में अन्याय, अनीति और कुरीति से पैदा होता है।' इन पंक्तियों को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि अन्याय, अनीति, और कुरीति के प्रति विद्रोह का जन्म तभी होता है जब मनुष्य अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो, सचेत हो।

मानव अधिकारों के मूल में नैसार्गिक न्याय ;छंजनतंस श्रनेजपबमद्ध का दर्शन काम करता है। अरस्तु और सेंट एक्वीनास ने 'प्रकृति को मनुष्य की उच्चतम

---

*कोचीन (केरल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

संभावनाओं' का नाम देते हुए कहा है कि मनुष्य पूर्णता की ओर आकर्षित होता है और उसके अंदर अपने को संपूर्ण रूप से विकसित करने की संभावनाएं होती है; और यदि इन संभावनाओं को कृत्रिम रूप से न रोका जाए तो निश्चित रूप से मनुष्य अपने गंतव्य तक पहुंचेगा।

इस नैसर्गिक न्याय या नैसर्गिक विधान के विरूद्ध कभी हमारी सामाजिक–सांस्कृतिक संरचनाएँ तो कभी राजनैतिक दुरभिः संधियाँ मनुष्य की उच्चतम संभावनाओं के रास्ते में अवरोध पैदा करके उसकी पूर्णता को बाधित करती हैं। वर्चस्व की मानसिकता, स्वार्थपरता या अन्य कारणों से व्यक्ति के मौलिक अधिकारों, उसके लोकतांत्रिक अधिकारों का हनन किया जाता है। यहीं से भूमिका बनती है न्याय युद्ध की। मानवाधिकार एक तरह से न्याय युद्ध ही है अन्याय के विरूद्ध न्याय का बिगुल। इसका एजेंडा है बेहतर जीवन स्तर के लिए आवश्यक संसाधनों तक मनुष्य की पहुँच हो, स्वस्थ और गरिमापूर्ण जीवन जीने की स्थितियाँ हो, 'स्व' की पहचान के साथ जीने का ऐसा अधिकार हो जहाँ मानवीय योग्यताओं और मानवीय सामर्थ्य का विकास हो सके।

आज हम जिस Humanistic Sociology मानववादी या मानवतावादी समाज शास्त्र की बात करते हैं वह मानव अधिकारों के निहितार्थ को लेकर ही आगे बढ़ता है। केन प्लेयर ने मानवीय समाजशास्त्र के चार बिंदु गिनाए हैं :–

(1) मानवीय समाजशास्त्र मानवीय व्यक्तिपरकता तथा रचनात्मकता को पर्याप्त महत्व देता है और यह प्रदर्शित करता है कि व्यक्ति किस प्रकार सामाजिक अवरोधों का सामना करते हैं, सक्रिय रूप से सामजिक विश्वों का निर्माण करते हैं।

(2) यह मूर्त मानवीय अनुभवों जैसे वार्तालाप, भावनाओं, क्रियाओं को सामाजिक तथा विशेषतः आर्थिक संगठनों के माध्यम से अध्ययन करते हैं।

(3) यह उन अनुभवों के साथ स्वाभाविक घनिष्ठ संबंधों को प्रकट करते हैं।

(4) अंत में यह समाजशास्त्रियों के नैतिक और राजनैतिक दायित्वों के प्रति आत्म जागरूकता पैदा करता है ताकि वे एक ऐसी सामाजिक संरचना के निर्माण की ओर अग्रसर हों जिसमें न्यूनतम शोषण, दमन और अन्याय हो।

इस तरह मानववादी समाजशास्त्र इस बात पर विचार–विमर्श की प्रक्रिया चलाने में विश्वास करता है जिससे समाज में परिवर्तन का रास्ता साफ हो सके। जो मानव की गरिमा, उसकी स्वाधीनता और सृजनात्मक क्षमता की रक्षा कर सके।

मानववादी समाज – शास्त्र से साहित्य जुड़ता है। मानववादी समाजशास्त्र से जुड़ा साहित्य मानवाधिकारों के संरक्षण की चेतना जगाता है।

आधुनिक साहित्य के परिदृश्य के मनुष्य की पहचान, गरिमापूर्ण जीवन जीने की आकांक्षा और उसकी मांग बराबर बनी हुई है। नया कवि इसी मांग को मुखरित करत है– 'मैं आदमी बनकर जीना चाहता हूँ/न कि एक क्रम संख्या/और जो कुछ चाहता हूँ कल नहीं/आज पीना चाहता हूँ।'

सामाजिक न्याय या नैसर्गिक न्याय का सूत्र पकड़कर शताब्दियों से पद दलित, शोषित, मजदूर, किसान और स्त्री के दुख दर्द को अभिव्यक्त करनेवाले साहित्य में मानव अधिकारों की चेतना के स्वर दिखाई देते हैं।

साहित्यकार की चेतना ऐसे दबावों के प्रति झुकना नहीं चाहती जो मानवाधिकारों का हनन करते हों। जो मनुष्य को उसके मूलभूत अधिकारों और आवश्यकताओं से वंचित करते हों। इसलिए वह आक्रोशात्मक मुद्रा में कहता है– 'हर नंगे आदमी को/शंकर बना दूँगा/हर अंगुली को त्रिशूल।'

लोकतंत्र की चर्चा हमें गर्व से भर देती है। हर अच्छा साहित्यकार लोकतांत्रिक मूल्यों के हनन के प्रति सचेत होता है। लोकतंत्र को समाज की अखिरी जड़ो तक पहुँचाने वाली सबसे निचली इकाई पंचायत है। इसलिए पंचाचत और गांव समाज हमेशा से ही साहित्य की रचनाधर्मिता का महत्पूर्ण हिस्सा रहे हैं।

पंचायती राज्य संस्थाएं स्थानीय स्तर पर आज भी ग्रामीण क्षेत्र की महत्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। ग्राम गणतंत्र, लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण सहभागी लोकतंत्र जैसी सैद्धान्तिक अवधारणाएँ पंचायती राज दर्शन के साथ स्थापित की जाती रही हैं। वर्ष 1992 में हुए 73 वें संविधान संशोधन में एक नए पंचायती राज अधिनियम की शुरूआत हुई। नए पंचायती राज के अनुभवो ने के गांव समाज में कौन–सी और कितनी जागृति पैदा की ? आज हिन्दुस्तानी गांव समाज किस बुनियाद पर खड़ा है ? सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक मसलों और गांव वालों की सोच का दायरा क्या है ? इन सब सवालों ने हमारे साहित्यकारों को बेचैन किया है, उन्हें आंदोलित किया है। इसी उद्वेलन ने उन्हें गांव की पृष्ठभूमि में लाकर साहित्य सृजन के लिए विवश किया। प्रेमचंद, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय ऐसे ही रचनाकार हैं।

साहित्य, मानवाधिकार और पंचायत विषय पर सोच–विचार की प्रक्रिया में सबसे पहले कथा सम्राट मुंशी प्रेमचंद की चर्चित कहानी 'पंच परमेश्वर' की याद आती

है और याद आते हैं उसके दो प्रमुख पात्र जुम्मन शेख और अलगू' चौधरी। यह कहानी दो भिन्न सम्प्रदायों के मित्रों की घनिष्ठ मित्रता की पृष्ठभूमि में रची गयी है।

पंच परमेश्वर कहानी में जुम्मन की खाला एक फरियाद लेकर पंचों के समक्ष प्रस्तुत होकर रहती है :– 'मुझे न पेट की रोटी मिलती है, न तन का कपड़ा, बेबस बेवा हूँ। कचहरी दरबार नहीं कर सकती। तुम्हारे सिवा और किसको अपना दुख सुनाऊँ ? तुम लोग जो राह निकाल दो उसी पर चलू।' खाला की ये पंक्तियाँ सामाजिक ढाँचे में न्याय स्थल के रूप में पंचाचत की परिकल्पना को परिभाषित करती हैं। न्याय के लिए, अपने अधिकार के लिए, सम्मानपूर्वक जीवन जीने के लिए खाला पंचायत बिठाती है। और इस कहानी में यहीं पर मानवाधिकारों की नींव बनती है। पंच की कुर्सी पर विराजमान जुम्मन के घनिष्ठ मित्र अलगू चौधरी मित्रता को ताख पर रखकर न्याय के पक्षधर की भूमिका में जुम्मन के खिलाफ फैसला सुनाते हैं। क्योंकि 'पंच का न कोई मित्र होता है और न कोई दुश्मन।' जुम्मन की पंचायत के लगभग एक महीने बाद ही एक विवाद में अलगू चौधरी को पंचायत बुलाती पड़ती है। सरपंच के पद पर जुम्मन विराजमान हैं। अलगू भयभीत है। मगर पंच के स्थान पर बैठते ही जुम्मन का दायित्व बोध जगता है– 'मैं इस वक्त न्याय और धर्म के सर्वोच्च आसन पर बैठा हूँ। उन्होंने बैर भाव भुलाकर फैसला अलगू के पक्ष में किया क्योंकि 'पंच की जुबान में खुदा बोलता है।' प्रेमचंद की अन्य रचनाओं में हल्कू, घीसू, माधव, होरी, धनिया, सिलिया जैसे पात्रों के चरित्रांकन में मानवााधिकारों की मूल चेतना ही काम कर रही है। फणीश्वरनाथ रेणु के कथा साहित्य में बिहार के ग्रामांचल की प्रामाणिक तस्वीरों में पंचायत के क्रियाकलापों की वास्तविकताएँ उजागर हुई है। इन तस्वीरों में ऐसे पात्रों की कमी नहीं है जो मानवाधिकारों की चेतना से ऊर्जावान हैं।

प्रेमचंद की 'पंच परमेश्वर' कहानी के बाद इसी शीर्षक से रांगेय राघव की कहानी प्रकाशित हुई। प्रेमचंद की कहानी पंचायत प्रणाली की निष्पक्ष न्याय प्रणाली की कहानी हैं, तो रांगेय राघव की 'पंच परमेश्वर' पंचायत प्रणाली की विसंगतियों को चित्रित करती है। यह कहानी इस बात का संकेत है कि पंच भी भ्रष्ट और निकृष्ट वासनाओं में लिप्त हो सकते हैं। जो ठर्रे की बोतल के बदले अपना ईमान बेच सकते हैं। इस कहानी की प्रस्तुत पंक्तियाँ पंचायत प्रणाली में आयी भ्रष्टता का उत्कृष्ट नमूना है– चौधरी पंच ने कन्हाई के घर में प्रवेश किया। कन्हाई ने इधर–उधर की बातें की फिर उठाकर भीतर से एक चीज लाया। चौधरी ने देखा। हंसकर कहा– अरे इसका क्या होगा ?

किंतु कन्हाई ने कहा–तो बात ही क्या है दादा ? कौन पराए हो। और खोल दी ठर्रे की बोतल। अब तो चौधरी ने कुल्हड़ मुँह से लगाते हुए कहा

दादा लड़ाई है जे। कौन मंहगा नही हो गया ? मैं नहीं हुआ ? कि तुम नहीं हुए ? अब तो मौत का इतना खरचा है जितना जिंदगी का।

दोनों ही पर हल्का नशा चढ़ चुका था और अब खोपड़ी में घोड़े की सी टाप लगने ही वाली थी। ठर्रे की महक में कन्हाई ने कहा– दादा तुम्हारा ही भरोसा है, चौधरी ने झूमते हुए कहा– अरे काहे की फिकर है तुझे ?

बीसवीं शताब्दी के अंतिम और इक्कीसवीं सदी के शुरूआती दौरे की हिंदी कहानी की परिदृश्य में ऐसी अनेक कहानियाँ हैं जो पंचायत के साथ–साथ नए पंचायती राज की दशा और दिशा के ऐसे यथार्थ को चित्रित करती हैं जो एक किस्म की मानवीयता की मांग पैदा करता है। पंचायती राज के सिद्धांत, विचार, दर्शन, संविधान तथा राज्य सरकारों द्वारा बनाए नए कानूनों और नियमों के बीच गहरी विसंगति है। आदर्श समझी जाने वाली ग्राम पंचायतों में जन–सहभागिता का स्तर न्यून है। आज ये पंचायते एक व्यक्ति या ग्राम प्रधान का अंग बनकर रह गयी हैं।

ग्राम पंचायतों की स्थिति एक सरकारी विभाग जैसी हो गयी है। महिला आरक्षण और अनुसूचित जाति एवं जनजाति के प्रतिनिधि के आरक्षण संबंधी मसले गांव में बेचैनी पैदा कर रहे हैं। गांव पंचायतें भ्रष्टाचार का केंद्र बन गयी हैं। आज गांव समाज में जातीय स्तर पर, वर्गीय स्तर पर, संबंधों के स्तर पर, सामाजिक संरचना के स्तर पर, जो जटिलताएं हैं हिंदी के रचनाकार अपने कथा–साहित्य के पटल पर उन सब का साक्षात्कार करा रहे हैं।

लिंग, जाति, वर्ग आदि के संदर्भ में मनुष्य की गरिमा और संघर्ष को लेकर पंचायत के इर्द–गिर्द रचनाकारों ने कथा का ताना–बाना बुना है। इनमें रमणिका गुप्ता की 'दाग दिया सच; भवानी सिंह की 'एक एक कदम; विद्यासागर नौटियाल की 'फट जा पंचधार, सुभाष चंद्र कुशवाहा की 'हाकिम सराय का आखिरी आदमी', कमर मेवाड़ी की फैसला तथा रजत रानी 'मीनू' की 'फरमान' कहानी की जिक्र किया जा सकता है।

विद्यासागर नौटियाल की कहानी 'पंचधार' भी पंचायत प्रणाली की विवेकपूर्ण प्रक्रिया पर प्रश्न चिन्ह लगाती है। यह कहानी दलित स्त्री के संदर्भ में मानवाधिकारों की मांग करती है। इस कहानी में कोल्टा स्त्री रक्खी की जिंदगी की मार्मिक दास्तान है। पंचायत के फरमान पर घर–गांव से बाहर कर दी गयी रक्खी जीवन के अखिरी

दिनों में अपना हलफनामा भारत सरकार के एक हाकिम के पास भेजती है– मेरे पास वस्त्र के नाम पर सिर्फ ये चीथड़े है; जो मेरे तन पर हैं ये फट गए हैं और फटते जा रहे हैं। रहने के लिए ये खुली गुफा है। हजारों वर्षों से हमारी पीढ़ी की दो बालिश्त जमीन की तलाश जारी है..... खाने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है, कुछ भी नहीं।' यह दलित स्त्री कामना करती हैं पंचधार फट जाए।

आज दिल्ली, पंजाब, हरियाणा, तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पंचायतों द्वारा भिन्न प्रांतीय तथा अन्तजातीय प्रेम युगलों की हत्याएं मानव अधिकारों के हनन की दर्दनाक कहानियों का परिणाम हैं। इन हत्याओं ने मीडिया के साथ–साथ हिंदी के रचनाकारों को भी आहत और आंदोलित किया है। रमणिका गुप्ता की 'दवा दिया सच' ऐसी ही प्रेम कहानी है। जिसमें गांव पंचायत द्वारा प्रेमी युगल पर हिंसा के ताण्डव का मार्मिक चित्रण हैं। प्रेमी युगल की सामाजिक वर्जनाओं के चलते बलि चढ़ा दी गयी। महावीर–मालती के प्रेम प्रसंग की खबर जब गांव में उड़ी तो मालती के पिता की चेतावनी गूंजी 'मालती का घर से निकलना बंद कर दो। फिर दोनों को साथ देखा तो जिंदा गाड़ देंगे जमीन में।' दोनों के संदर्भ में पंचायत बुलाई गयी। फैसला परम्परा के ठेकेदारों ने किया जलती हुई लुकाटी ली, मालती की साड़ी खींच नंगा कर उसकी जांघों में दाग दिया, दाग दी मालती को कोख, औरत का सच।

गांव समाज के वंचित वर्ग में महिलाएं भी शामिल हैं। महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए राजनीतिक सत्ता में उनकी भागीदारी के लिए आरक्षण के माध्यम से रास्ता बनाया गया। संसद द्वारा वर्ष 1992 में पारित संविधान का 73 वाँ और 74 वाँ बिल भारतीय महिलाओं के लिए क्रांतिकारी घटना थी। इस नए पंचायती राज अधिनियम में बुनियादी स्तर पर देश की लोकतांत्रिक संस्थाओं को सुदृढ़ आधार सौंपते हुए महिलाओं को मुख्यधारा में लाने का महत्वपूर्ण काम किया। लेकिन पति, परिवार, सवर्ण, दबंग और संपन्न लोगों के वर्चस्व के चलते पंचायत के निर्णय में महिलाओं की भागीदारी न के बराबर ही रही। कई राज्यों में महिला सरपंच की जगह पुरूष होने के नाते सचिव स्वयं को अधिक महत्वपूर्ण समझता है। वह महिला सरपंच को भ्रम में डालकर गलत काम करवा लेता। उल्टे–सीधे काम की जांच पर फसती है महिला सरपंच। मध्य प्रदेश के बैतूल जिले के एक गांव की सरपंच ने प्रशासनिक भ्रष्टाचार तथा प्रशासन में असहयोगपूर्ण रवैये के कारण आत्मदाह कर लिया। इसी परिप्रेक्ष्य में भवानी सिंह की कहानी 'एक–एक कदम' सरपंच महिलाओं में अधिकारों के संरक्षण की कहानी है। दलित महिला बसंती के सशक्तिकरण की यह कहानी इस बात की गवाही दे रही है

कि किस तरह दलित महिलाएं विपरीत परिस्थितियों से टकराते हुए जूझते हुए पितृसत्ता और जाति आधारित संरचनात्मक ढांचे की वर्चस्ववादी मानसिकता के खिलाफ लड़ रही हैं।

साम्प्रदायिक राजनैतिक कारणों से गांव समाज में आ रहे बिखराव को सुभाष चंद्र कुशवाहा की कहानी 'हाकिम सराय का आखिरी आदमी' व्यंजित करती है। भारतीय गांव समाज के अंतर्विरोधों और विसंगतियों के चलते मानवीयता के खत्म हो जाने की पीड़ा इस कहानी में देखी जा सकती है।

वर्षों से गांव वालों को न्याय की दुहाई देती आ रही पंचायतें किस तरह अमानवीय और गैरकानूनी निर्णय देकर मानवाधिकारों का हनन कर रही हैं इसका उदाहरण ही रजत रानी 'मीनू' की कहानी 'फरमान'। चौधरी की भैंस खो जाने पर चरवाहे कर्मवीर को पंचायत द्वारा 'सजा–ए–मौत का फरमान' पंचायत की निरंकुशता की कहानी दर्ज वाला करता है।

इस तरह हिंदी के रचनाकार गांव समाज को अपनी कथात्मक परिधि में समेटकर गांव समाज की पंचायतों में मानवीय सरोकारों, संवेदनशीलता और निष्पक्ष न्याय की लौ को बचाए रखना चाहते हैं। वह गांव समाज की अन्तर्धारा में लिंग, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय से संबंधित जहरीले कीटाणुओं को खत्म करके मानव अधिकारों के संरक्षण की भूमिका में बदलाव की तत्परता लाना चाहते हैं।

साहित्य निरंतर जटिल होती जा रही संरचना में खोये हुए मनुष्यत्व की तथा मनुष्यता की पुनर्रचना के लिए प्रयत्नशील दिखाई देता है। जहाँ मानवीयता की खोज का प्रयत्न भी है और मानवतावाद की अवरोधक शक्तियों से जूझने का हौसला और संकल्प भी। साहित्य के सार्थक हस्तक्षेप वहीं है जहाँ व्यक्ति और व्यवस्था तंत्र की अमानवीयता के बीच टकराहत की आवाजें साफ सुनाई देती हैं, जहाँ मानव विशिष्टता को नया आयाम देने की छटपटाहट है। मानवाधिकारों के संरक्षण की चेष्टा ही साहित्य को सार्थक बनाती है।

* * * *

साहित्य, परम्परा और मानवाधिकार *

प्रो0 शंभुनाथ

मनुष्य के मनुष्य होने के नाते क्या अधिकार हैं और उन अधिकारों की रक्षा कैसे की जाए, यह सवाल जितना बड़ा है, उतना ही पेचीदा भी। इस सवाल पर चर्चा दुनिया भर में हुई है। बहुसंख्यक देशों में मानवाधिकार आयोग बने हैं। राष्ट्र संघ का युद्ध के बाद यह दूसरा मुखर इलाका है। इसका अर्थ है मानवाधिकार को एक महत्वपूर्ण मुद्दे के रूप में देखा जा रहा है। उन देशों में जहां गुलामी, भेदभाव और सामुदायिक उत्पीड़न के अवशेष बचे हैं या बड़े पैमाने पर सरकारी उत्पीड़न है और असहमति की आवाजें कुचल दी जाती हैं, वहां मानवाधिकार आंदोलन से जुड़े लोग अधिक तत्परता से सक्रिय हैं और वे इधर तेजी से फैले हैं।

वर्जीनिया में 1776 में पारित 'बिल ऑफ राइट्स' से लेकर 'मानवाधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय घोषणापत्र' (विएना, 1948) तक मानवाधिकार आंदोलन ने निश्चय ही एक लंबा सफर तय किया है, पर 21वीं सदी में इस मुद्दे को कुछ और खोलने की जरूरत महसूस हो सकती है। वर्जीनिया में पारित 'बिल ऑफ राइट्स' में लगभग ढाई सौ साल पहले कहा गया था, ''हर आदमी प्राकृतिक रूप से मुक्त और आजाद है। उसके अपने कुछ प्राकृतिक अधिकार हैं, जिन्हें समाज का अंग बनते ही उसे मिल जाने चाहिए। उसे इन अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। उन अधिकारों में मुख्य हैं संपत्ति उपार्जित करने, संपत्ति का स्वामी बनकर जीने, स्वतंत्रता का भोग करने और प्रसन्न होने का अधिकार। उनमें सुरक्षित रूप से जीने और किसी दमन के प्रतिरोध के अधिकार भी शामिल हैं। उस समय से वियना सम्मेलन तक मानवाधिकार की लड़ाई पर दुनिया में कई कोणों से बहस हुई और मानवाधिकार को अंततः नैतिक अधिकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफलता मिली। यह अब मनुष्य द्वारा मनुष्य से बराबर के सम्मान की मांग है। इस आंदोलन की केंद्रीय चिंता मानव को परिधि से केंद्र में लाने

---

*कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में आयोजित राश्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

की है, जिसका अर्थ है वैश्विक रूप से व्यक्तिगत स्वतंत्रता और गरिमा कीप्रतिष्ठा करना। यह भी देखा गया है कि मानवाधिकार आंदोलन के निशाने पर एक समय मुख्य रूप से साम्यवादी देश थे। इसमें संदेह नहीं कि अब एशियाई देश हैं क्योंकि इन देशों में दमन के सैकड़ों रूप बचे हैं।

आज मानवाधिकार आंदोलन एक ठोस अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का रूप ले चुका है जबकि दुनिया भर में मानवाधिकार हनन पहले से बढ़ा है। मानवाधिकार के प्रश्न पर प्रशासनिक सक्रियता और उसका मानवाधिकार आयोग से सहयोग का स्तर काफी नीचे है। यहां सिर्फ आश्वासन हैं, सांत्वना–भरी बातें हैं। इसलिए राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग में हजारों मामले वर्षों तक झूलते रहते हैं और सुनवाई चलती रहती है। इतना ढीला–ढालापन है कि मानवाधिकार की नई व्याख्याएं तो उसके विषय से बाहर हैं। कुछ गैर–सरकारी मानवाधिकार संगठन है, जो आवाज उठाते हैं। कुछ संगठन अरण्यरोदन–सा करते और कुछ सिर्फ विदेशों से पैसे बटोरकर इस आंदोलन को आतिशबाजी में बदलते।

मानवाधिकार हनन में कितनी व्यापकता आई है या आज के समय में मानवाधिकार कितने सुरक्षित हैं, यह मामला इस पर निर्भर करता है कि मानवाधिकारों की कैसी व्याख्या करते हैं। इसके अंतर्गत खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य और शिक्षा के अधिकार अब तक नहीं आ सके हैं। किसानों का उनकी कृषि–भूमि पर जब तक वे चाहें अपना दखल रखने का अधिकार, आदिवासियों के उनके जल, जंगल और जमीन का अधिकार या किसी समुदाय को अपने परंपरागत तरीके से जीने का अधिकार मानवाधिकार, के अंतर्गत आ सकता है या नहीं ? किसी की गोली से मरने का अधिकार, जीने का अधिकार मानवाधिकार का सबसे बड़ा मुद्दा है। युद्ध के संहार से बचने का मानवाधिकार क्यों न हो ? 'स्लटवाक' के संदर्भ में यह मुद्दा सामने आया है कि स्त्री अपनी इच्छा के अनुसार कपड़े क्यों न पहने, उसके सेक्सी दिखने भर से किसी को रेप की स्वतंत्रता कैसे मिल सकती है। कन्या–भ्रूणों की हत्या हो रही है, उनको मानवाधिकार कौन देगा ? दरअसल सांमती क्रूरताओं के पक्ष में तरह–तरह से दलीलें दी जाती रही हैं। एक और मुद्दा है, आमतौर पर पिछड़े और गरीब लोगों के इलाके ही परमाणु ऊर्जा संयंत्र या ऐसी बहुराष्ट्रीय परियोजनाओं के लिए चुने जाते हैं। ऐसे इलाकों में मानवाधिकारों का हनन होता है या नहीं ?

इधर एक नया शोर उठा है। बिहार सरकार में बात चली है कि जेल से सजा काटकर लौटे व्यक्तियों को जीवन की मुख्य धारा में शामिल होने के रास्ते बंद रखे

जाए, ताकि लोग अपराध करने से पहले डरें। राज्य के मानवाधिकार आयोग ने तुरंत तत्परता दिखाते हुए इस प्रस्ताव का ठीक ही यह कहते हुए विरोध किया कि एक बार अपराध करने से ही कोई व्यक्ति पूरी जिंदगी के लिए अपराधी नहीं हो जाता। हर आदमी को अपना जीवन जीने का मौलिक अधिकार है। सजायाफ्ता अपराधी अपनी नई जिंदगी शुरू कर सकता है, उसे इस संवैधानिक अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है। कहना न होगा कि सरकार द्वारा ऐसे फतवे अपराध के विरूद्ध अपनी प्रतिबद्धता को बढ़ा–चढ़ाकर पेश करने के उद्देश्य से दिए जाते हैं। मानवाधिकार को ऐसे मौकों पर मुखर होने में संकोच नहीं होता।

वैश्वीकरण के युग में मानवाधिकार का एक जरूरी मुद्दा विकास के अधिकार से संबंधित है। यह मुद्दा मानवाधिकारों में शामिल क्यों नहीं किया जाता ? आखिरकार एक विलासबहुल विकसित सभ्यता में किसी गांव, पहाड़, रेगिस्तान या जनजातीय क्षेत्र को कितना पिछड़ा रखा जा सकता है ? यह प्रश्न भी है। संचार–क्रांतियां असहमति की आवाजों को राह नहीं दे रही हैं, यह मानवाधिकार– हनन है या नहीं ? धार्मिक और राजनीतिक क्रूरताओं के अलावा बाजार की तानाशाही से उठे प्रश्न हैं। बाजार की नैतिकता एक ही चीज जानती है कि व्यापार कैसे बढ़े और अधिक से अधिक मुनाफा हो। ऐसी चीजों के कारण मानवाधिकार की व्याख्या में विस्तार लाने की जरूरत महसूस हो सकती है।

मानवाधिकारों का एक सर्वमान्य वैश्विक रूप हो, यह पश्चिम के पूंजीवादी दिमाग की चिंता रही है। पश्चिमवादी बुद्धिजीवियों के लिए सर्वमान्य का अर्थ है 'सबसे पहले जो पश्चिम को मान्य हो' इसका संकेत हमें जान स्टुअर्ट मिल के 'स्वतंत्रता' नामक प्रसिद्ध लेख से मिल जाता है, ''मानवजाति के विकास के साथ ऐसे सिद्धांत विकसित होंगे, जिनके संबंध में अंततः कोई मतभेद या संदेह नहीं रह जाएगा। सभी मनुष्यों की अच्छाई इससे परखी जाएगी कि उसके पास एक साथ ऐसे कितने शक्तिशाली सत्य हैं, जो बिना विरोध के सर्वमान्य हों।'' हाल का सबसे बड़ा सर्वमान्य सच वैश्वीकरण है, जो सभी देशों ने माना है। युद्ध कभी पश्चिमी देशों के मोर्चे पर नहीं होते। किसान आत्महत्या पश्चिमी देशों में नहीं करते। कुपोषण और खाद्य–असुरक्षा पश्चिमी देशों में नहीं है। हिंसक जातीय विद्वेष पश्चिमी जातियों में नहीं हैं। एशियाई, लैटिन अमेरिकी और अफ्रीकी देशों की तरह भयंकर विषमता पश्चिमी देशों में नहीं है। यदि तब भी वैश्वीकरण का वर्तमान इकहरा रूप एक सर्वमान्य सत्य है तो सोचना होगा कि यह वस्तुतः किनके लिए महान सत्य है और किनके लिए विपत्ति है ? वैश्वीकरण

जिनके लिए विपत्ति है, वे जरूर इस पर संदेह करेंगे। जाहिर है, उतना ही संदेह मानवाधिकार की इकहरी वैश्विक धारणा पर भी संभव है।

वैश्वीकरण के दो साल बाद 1993 में मानवाधिकारों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह विवाद शुरू हुआ कि मानवाधिकारों का कोई एकरेखीय वैश्विक रूप नहीं हो सकता। अतः एशियाई देशों के संदर्भ में मानवाधिकारों को पुनर्पारिभाषित किया जाए। इस बहस में यह कहा जा रहा था कि मानवाधिकार के विकास का इतिहास अलग–अलग देशों में अलग–अलग है। पश्चिम और पूर्व की सभ्यताओं में फर्क है। पश्चिमी देशों में यदि व्यक्तिगत अधिकार और वैयक्तिक कर्तव्य की प्रधानता है तो पूर्व में सामुदायिक अधिकार और सामुदायिक कर्तव्य की। एशिया की परंपरागत संस्कृतियों में इस तरह की सोच नहीं है कि व्यक्ति समुदाय के ऊपर है। एशियाई सांस्कृतियों परंपराओं में व्यक्ति आमतौर पर किसी जातीय–जनाजातीय समूह या मजहबी समुदाय का हिस्सा होता है। इन वास्तविकताओं की रोशनी में देखें तो यह बात आती है कि मानवाधिकार को एक –रेखीय वैश्विक कोण से नहीं देखा जा सकता। मानवाधिकार की कोई भी चिंता सांस्कृतिक विविधता के संदर्भ को हटाकर सार्थक नहीं हो सकती। मानवाधिकार आंदोलन एक महत्पूर्ण काम है, पर इसमें खुलापन लाकर निश्चय ही बहुतों का यह संदेह दूर करना होगा कि यह दुनिया पर पश्चिमी मूल्यों को थोपने का अभियान है।

हम जानते हैं कि वैश्विक मानवाधिकारों को लेकर चिंता के साथ पिछले दो–तीन दशकों में सांस्कृतिक बहुलता या 'बहुसांस्कृतिकता' को भी व्यापक स्वीकृति मिली है। विकसित देशों और उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं, दोनों जगह बहुसांस्कृतिकता के पक्ष में अक्सर बोला जाता है। यह अलग बात है कि कुछ पश्चिमी देशों में यदि सिख पगड़ी पहनता है या मुस्लिम औरत बुर्का पहनती है तो इसे निषिद्ध ठहरा दिया जाता है। पश्चिमी देशों में अपनी ही संस्कृति को श्रेष्ठ समझने की आदत है, जबकि वहां भी नस्लीय दंगे हो रहे हैं, हिंसा बढ़ रही है। पश्चिमी दुनिया में मानवाधिकारों पर इस तरह बात होती है कि यहां ऐसी कोई समस्या न हो, मानवाधिकार के लिए संघर्ष के इलाके सिर्फ एशियाई देश हों। पश्चिमी देश मानवाधिकार, स्वतंत्रता और गरिमा पा चुके हैं और दूसरे देश इनसे वंचित हैं। धारणा बना ली गई है कि पश्चिमी देश सदा से उदारवादी हैं और गैर–पश्चिमी देश सदा से कट्टर हैं। यह नहीं देखा जाता कि गैर–पश्चिमी देशों में जो सामुदायिक खाइयों और कट्टरता है, वह साम्राज्यवादी निर्मिति है। सिर्फ मानवाधिकार का प्रश्न उठाकर इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

इसके लिए पश्चिमी सोच और रणनीति में बुनियादी सुधार की जरूरत है। यह सोचना काफी नहीं है कि गैर–पश्चिमी देशों को अंग्रेजी राज में जिस तरह 'सभ्यता' दी जा रही थी, उसी तरह अब इन्हें 'मानवाधिकार' की जरूरत है। इस ओर भी दृष्टि जानी चहिए कि मानवाधिकार की जरूरत बहुराष्ट्रीय कंपनियो के निर्दय बाजारू साम्राज्यवाद के संदर्भ में भी है। मानवाधिकार हनन के प्रत्यक्ष रूपों के अलावा कई अप्रत्यक्ष रूप हैं। हम जानते हैं कि वैश्वीकरण के संदर्भ में 'मानवीय चेहरे' की अनिवार्यता बार–बार घोषित की गई है। प्रश्न उठता है, क्या मानवाधिकार के नाम पर सिर्फ व्यक्तिवाद या स्वेच्छाचारिता पनपाने की योजना है, जिस तरह वैश्वीकरण के 'मानवीय चेहरे' के पीछे विषमता बढ़ाने की योजना ?

यही जगह है, जहां हम देख सकते हैं कि मानवाधिकार का परंपराओं से क्या संबंध हो, मानवाधिकार आंदोलन विविध सांस्कृतिक परम्पराओं को कैसे संबोधित करे और इसके साथ यह कुछ साझा मानवाधिकारों को भी कैसे पहचाने। इस पर सोचने की जरूरत है कि मानवाधिकारों के संदर्भ में एशियाई आवाज क्या हो और इसे कैसे जनप्रिय बनाया जाए। काफी लोगों को पता भी नहीं है कि मानव होने के नाते उनके क्या–क्या अधिकार हैं और क्या हो सकते हैं। बड़े शहरों को छोड़ दे तो छोटे शहरों और गांवों में मानवाधिकारों को लेकर जागरूकता का बड़ा अभाव है। मानवाधिकार की जिला अदालतों में मामले ही नहीं होते। इसलिए मानवाधिकारों के लिए जागरूकता–अभियानों की जरूरत है और निश्चय ही यह भी समझना होगा कि नई स्थितियों में मानव कर्तव्य क्या हैं।

हम जानते हैं कि स्वतंत्रता, भाईचारा और न्याय सिर्फ पश्चिमी चीजें हैं। इनके आधार विश्व के सभी महान धर्मों में है। 'महाभारत' में कहा गया है, ''दूसरे के साथ ऐसा कुछ न करो, जो अगर तुम्हारे साथ हो तो तुम्हारा नुकसान हो।'' {(XII) 113.8}। ऐसे कथन हिंदू, ईरानी, बौद्ध, ईसाई, चीनी, इस्लामी, सिख हर परम्परा में हैं। इसका अर्थ है कि मानवाधिकार का एक सार्वभौम रूप हो सकता है, जिस तरह आधुनिकता की एक सामान्य या साझा संस्कृति हो सकती है। समस्या यह है कि हमें चारों तरफ फिलहाल आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी आधुनिकता ही दिखाई दे रही है, जो खुदगर्जी, व्यक्तिवाद और अति–व्यक्तिवाद की ओर ले जाती है। निश्चय ही मानवाधिकार को पश्चिमी व्यक्तिवाद या स्वेछाचारिता में सीमित नहीं किया जा सकता।

हाल में रतन टाटा ने शिकायत की कि नीरा राडिया से फोन पर हो रही उनकी बातचीत टेप कर ली गई, जो उनके मानवाधिकार का हनन है। क्या मानवाधिकार

व्यक्ति की निजता के लिए ऐसा स्पेस भी दे सकता है कि वह गलत सौदे करे, मनमानी करे और कोई यह सब न देखे। फिर आतंकवादियों और माओवादियों के फोन भी क्यों टेप हों ? जाहिर है, मानवाधिकार का अर्थ गलत मुनाफा, अन्यायपूर्ण ढंग से विकास, यह वैश्वीकरण की राह से मनुष्य के जीवन, रोजगार और जल–जंगल–जमीन के अधिकार। छीनना नहीं हो सकता है। कि इस सवाल को इस तरफ खड़ा करना चाहिए। वैश्वीकरण की छाया में हो रहे परिष्कृत आर्थिक अत्याचारों को इसमें लाया जा सके।

मानवाधिकार का मतलब सिर्फ व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता के क्षेत्रों का विस्तार भर नहीं है। इसके कुछ सामाजिक पहलू भी हैं, क्योंकि मानवाधिकार का मतलब राष्ट्रीय–सामाजिक जिम्मेदारियों से मुक्त होना नहीं है। मानवाधिकार का अर्थ स्वेच्छाचारिता नहीं है, बल्कि न्याय का अधिकार है। यह भी एक बात है कि 'न्याय' शब्द का मन मुताबिक सीमित अर्थ निकालना सही नहीं है बल्कि न्याय का पूरा अर्थ लेना होगा। आज वैश्वीकरण के 'मानवीय चेहरे' की जो बात होती है, वह मानवाधिकार की भावना से निकली है। यही वजह है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां गरीबी और विषमता को संबोधित करने के लिए नए–नए ड्रामा करती है। फलतः मानवाधिकार दिखावटी मानवीय चेहरे में सिकुड़ जाता है, यह एक नकाब बन जाता है। इसी तरह यदि समाज में सामुदायिक दमन के रूप बचे हैं तो मानवाधिकार का अर्थ अस्मिता की राजनीति के तहत संपूर्ण राष्ट्र या समाज को विघटित कर देना नहीं हो सकता, उसकी पुनर्कल्पना उसे नया आकार देना ही हो सकता है, जो एक सामूहिक सामजिक आंदोलन के बिना मुमकिन नहीं है।

सोशल नेटवर्किंग के संदर्भ में कम चिंता व्यक्त नहीं की जाती। कहा जाता है कि नेटवर्क से आपत्तिजनक चीजों को तुंरत हटा लेना चाहिए, क्योंकि इनसे लोगों की भावनाएं आहत होती हैं। इस जगह पर भी मानवाधिकार का प्रश्न उठता है। क्या हटाया जाए, क्या रखा जाए, यह कौन तय करेगा ? दूसरे, रोज लाखों चीजों से गुजरना संभव नहीं है, कुछ प्रतीकात्मक अवरोध भले संभव हों। वैश्वीकरण को न्यायसंगत बनाने की जगह उससे निराशा में गुस्से, विद्वेष, खीझ औ किस्म–किस्म के असंतोषों को दबाने की योजना बनाना खुद एक खीझ से भरा सोच है। टेक्नोलॉजी के दुरूपयोग से बचना विकसित होती जा रही टेक्नोलॉजी के युग में लगातार मुश्किल होता जाएगा। इसका मनुष्य के नियंत्रण से बाहर जाना खुद मानवाधिकार–हनन का मामला है।

आमतौर पर मानवाधिकारों को एकरेखीय वैश्विक रूप में देखकर सांस्कृतिक विविधता की अवहेलना की जाती है। दरअसल हम 'स्थान' की अवहेलना नहीं कर सकते, 'परम्पराओं' की अवहेलना नहीं कर सकते। आज 'स्थान' और 'परम्पराओं' की उपेक्षा इसलिए भी मुश्किल है कि वैश्वीकरण के अत्याचारों के बीच सांस लेने की थोड़ी जगह बस यहीं होती है। यह जगह शहरातियों को पिछड़ी लग सकती है, पर कई बार 'स्थान' और 'परम्पराएं' अधिक उदात्त होती हैं, अधिक मूल्यवान होती हैं वे हमेशा निर्दय जगहें नहीं होती। मानवाधिकारों के संदर्भ में 'स्थान' और 'परम्पराओं' को महत्व देने का यह अर्थ नहीं है कि लंबे समय से चली आ रही मसलन बाल विवाह, सांप्रदायिक और जातिवादी भेदभाव, धार्मिक अंधविश्वास, 'आनर कीलिंग' क्षेत्रीय जातीय हिंसा जैसी चीजों का समर्थन किया जाए। मानवाधिकारों को 'स्थान' या सांस्कृतिक विविधता के संदर्भ में देखने का अर्थ सिर्फ यह है कि 'स्थान' के असंतोषों, पर्यावरण–क्षय और नए जमाने में उच्च आदर्शों के हो रहे तेजी से पतन को भी समझा जाए, क्योंकि मानवाधिकार के नाम पर कई बार व्यक्तिवाद, खुदगर्जी और वित्तीय स्वेच्छाचारिता को मौका मिलता है। खासकर वे देश जो लंबे समय तक औपनिवेशिक ज्यादतियों के शिकार रहे हैं, उन्हें अपनी राष्ट्रीय भाषाओं और सांस्कृतिक परंपराओं से न केवल एक पहचान मिलती है बल्कि उनका सोच भी आकार पाता है। हमें मानवाधिकारों के दायरे को विस्तृत करते हुए देखना होगा कि पश्चिमी सांस्कृतिक आक्रमण के वरक्स अपनी अपनी भाषा और संस्कृति से संबंधित अधिकारों को मानवाधिकार में कैसे शामिल किया जा सकता है। खासकर जब बहुभाषिकता और बहुसांस्कृतिकता की बार–बार दुहाई दी जा रही हो, पर एक ही भाषा अंग्रेजी भाषा और एक ही संस्कृति पश्चिमी संस्कृति छाती जा रही हो।

हमारा कहना है कि गैर–पश्चिमी संस्कृतियों को गरिमा देते हुए मानवाधिकार आंदोलन को इस तरह समावेशी बनाया जाए कि यह महज एक पश्चिमी अभियान न लगे। यह बार–बार देखा गया है कि पश्चिम के लोग गैर–पश्चिमी सांस्कृतिक परंपराओं को समझना नहीं चाहते। मानवाधिकारों का गैर पश्चिमी सांस्कृतिक परंपराओं से संबंध स्थापित किए बिना और वैश्वीकरण के परिदृश्य में सामने आई नई क्रूरताओं को मुद्दा बनाए बिना मानवाधिकार आंदोलन में व्यापकता नहीं लाई जा सकती। हम निश्चय ही तब स्वतंत्रता, भाईचारा और न्याय के उच्चतर लक्ष्यों की ओर नहीं बढ़ सकते। क्या मानवाधिकार के भीतर आदिवासियों और जनजातियों को लेकर चिंताए हैं, क्या स्त्रियों और दलितों को लेकर चिंताएं हैं और कश्मीर या पूर्वोत्तर की अंशाति को लेकर चिंताएं है ? निश्चय की मानवाधिकार की धारणा स्थिर नहीं हैं। इसका संबंध

सभी स्थानों, सभी समुदायों और सभी सांस्कृतिक परंपराओं से है ही, नए मुद्दों से भी है।

हम जानते हैं कि वैश्वीकरण के जमाने में ही मानवजाति सर्वाधिक खंड–खंड हो रही है। एक तो न अब 'मानवीय आत्मसम्मान' और 'मनुष्यता' पर कहीं सामूहिक रूप से जोर दिया जाता है और न अब 'आर्थिक शोषण' जैसे शब्द कहीं चर्चा में हैं। कुछ मुद्दे हमारे सोच के हाशिए पर चले गए हैं। ऐसी घड़ी में मानवाधिकार को 'विकास' के साथ–साथ 'परम्परा' के संदर्भ में भी देखना चाहिए। हम यदि भारतीय साहित्य की परम्पराओं पर एक नजर डालें, सबसे पहले भक्ति आंदोलन में मानवीय आत्सम्मान, मानवजाति की एकता और आत्मोकर्ष का स्वप्न पाते हैं। भक्ति आंदोलन में वैयक्तिकता के साथ 'निर्वैर' 'सामासिकता' और 'मानवजाति की अखंडता' सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य हैं।

11वीं सदी में रामानुजाचार्य हुए थे। वह कहते थे, ''चांदी और सीप दो वस्तुएं हैं। किसी में किन्हीं तत्वों की कमी है, किसी में किन्हीं तत्वों की कमी है। इसके बावजूद चांदी के कुछ तत्व सीप में विद्यमान हैं। समानता के ये अंश दोनों की आांशिक एकता के द्योतक हैं'' रामानुज ने एकता को महत्त्व दिया। वह चांदी के कीमती और सीप के मूल्यहीन होने के पचड़े में नहीं गए। एक घटना है, वह पवित्र नदी में नहाकर निकलते थे और घाट पर खड़े एक शूद्र के कंधे पर हाथ–रख देते थे। किसी ने उनसे पूछा, आप नहाकर अपने को शुद्ध करते हैं फिर शूद्र को छूकर बार–बार अशुद्ध क्यों हो जाते हैं ? रामानुज ने जवाब दिया, ''नदी में नहाकर मैं अपनी देह को शुद्ध करता हूँ, शुद्र को छूकर अपने मन को शुद्ध करता हूँ।'' समझना चाहिए कि मानवाधिकार की लड़ाई की एक समृद्ध परम्परा है। वेदांत, बौद्ध धर्म और भक्ति आंदोलन के समय में कई विषमताओं के बीच भी मानवाधिकार की चेतना आदर्शवादी रूप में थी। पहले भी आवाजें उठी थीं। वे सभी भक्त कवि बसवण्णा, ज्ञानेश्वर, कबीर, चैतन्य महाप्रभु, रैदास मीरा आदि कवि अपने समय के कठोर धार्मिक ढांचे से असहमत लोग थे। सूफी भी असहमत लोग थे, कई अपने विश्वास के लिए फांसी पर झूल गए थे।

राजा राममोहन राय (1774–1833) ने एक टिप्पणी लिखी थी, 'पृथ्वी के मनुष्य का आम अधिकार' इसमें उन्होंने लिखा, ''सभी मनुष्य एक संप्रदाय के अनुयायी न होने के बावजूद इस संसार में तारकों का प्रकाश, वसंत का आनंद, वर्षा की जलधारा, शारीरिक स्वास्थ्य एवं आर्थिक स्वच्छंदता, देह और मन का सौंदर्य आदि इस धरती पर प्राप्त होनेवाली सभी चीजें नैसर्गिक आशीर्वाद की तरह पाते हैं। इसी तरह मनुष्य सर्व–धर्म निरपेक्ष रूप से एक ही तरह की असुविधाएं, दर्द, अंधकार और शीतलहरी,

मानसिक व्याधि, आर्थिक दैन्य, देह और मन की विकृति आदि दशाओं से समान रूप से गुजरते हुए इस पृथ्वी पर वास कर रहे हैं।'' नवजागरण के उस दौर की विश्व चिंता है, जिसमें आम मानवाधिकार भी एक मुद्दा है। बंकिमचंद्र (1838–1894) ने 'साम्य' शीर्षक निबंध में लिखा, ''प्रत्येक मनुष्य के अधिकार समान हैं– साम्य नीति यही है। स्त्रीगण भी मनुष्य जाति है, अतएव स्त्रीगण को भी पुरूषों जैसे अधिकार मिलने चाहिए।'' बंकिम का ध्यान दलितों की ओर भी गया। नवजागरण की आम मानवाधिकार की धारणा में स्त्री और दलित मुद्दे जुड़े।

दलितों के लिए लड़ने वाले फुले (1827–1890) ने जागरूक समाज सुधारकों की तारीफ करते हुए गुलामगीरी (1873) की प्रस्तावना में एक व्यापक दृष्टिकोण से लिखा था, ''इस परोपकारी बुद्धिजीवी वर्ग का हमें दासता से मुक्ति दिलाने में कोई स्वार्थ नहीं है, बल्कि उसे प्राणों की बाजी लगाकर यह कार्य करना पड़ रहा है। इस विषय पर सोचने से यह बात ध्यान में आती है कि मनुष्य मात्र को अपनी वैचारिक एवं आर्थिक आजादी पाने का पूरा हक है।'' इस कथन से यह संदेश मिलता है कि मानवाधिकार आंदोलन को यदि तीव्र करना हो तो समाज सुधार के कार्यों को एकबार फिर हाथ में लेना होगा। सामाजिक चेतना के लिए अग्रसर हुए बिना मानवाधिकार आंदोलन एक सतही मामला होकर रह जाएगा।

दरअसल 'वैश्विक' और 'स्थानीय' में अंतर्विरोध नहीं हो सकता, यदि 'वैश्विक' एक अप्रभुत्ववादी, अनऔपनिवेशिक और मानवीय भूमि पर फले–फूले। यह स्थिति फिलहाल नहीं है। इसलिए इकहरी वैश्विक अंतर्वस्तु वाला मानवाधिकार आंदोलन कई बार संदेह पैदा करता है।

प्रेमचंद (1880–1936) के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में एक अत्याचारी कारिंदे की हत्या करने के जुर्म में जब मनोहर ही नहीं कई गांववालों को पुलिस गिरफ्तार करती है, प्रेमशंकर बीच में कूदकर इन गांववालों को न्यायिक मदद दिलाता है। एक समय स्वधीनता–संग्राम में गिरफ्तार देशवासियों को कानूनी मदद देने के लिए कई वकील मानवाधिकार–भावना से खड़े हो जाते थे। प्रेमचंद का एक उपन्यास है 'कर्मभूमि'। इसमें एक भिखारी चरित्र सूरदास चारगाह के लिए छोड़ी अपनी जमीन सिगरेट कारखाने के लिए जानसेवक को बेचना नहीं चाहता। वह अड़ जाता है। उसकी झोपड़ी को अंग्रेजी राज की पुलिस घेर लेती है। यह दृश्य जैसे आज ताजा हो गया है। सूरदास की जमीन है, वह नहीं बेचना चाहता। वह अकेले लड़ता है। अंततः व्यापारी, अंग्रेजी शासन और जमींदार की सांठगांठ से उसकी जमीन छीन ली जाती है। सूरदास

लड़ाई में असफल हो जाता है। प्रेमचंद ने मानवाधिकार को उपनिवेशवाद से मुक्ति के संदर्भ में देखा था। किसान की जमीन किसान की है, इस रूप में मानवाधिकार को देखा था।

इतना ही नहीं आइंस्टीन को जब यहूदी होने के कारण अपना देश छोड़ना पड़ा तब भी प्रेमचंद मुखर थे, ''यूरोपीयन संस्कृति की तारीफ सुनते–सुनते हमारे कान पक गए। उसको अपनी सभ्यता पर गर्व है। हम एशियावाले तो मूर्ख हैं, बर्बर हैं, असभ्य हैं। लेकिन जब हम उन सभ्य देशों की पशुता देखते हैं, तो जी में आता है, ये उपाधियां सूद के साथ क्यों न उन्हें लौटा दी जाए। प्रो0 आइंस्टाइन जैसे विद्वानों को केवल यहूदी होने के कारण देश से बहिष्कृत कर दिया गया और संपत्ति छीन ली गई।'' इन कुछेक उदाहरणों से स्पष्ट हो सकता है कि मानवाधिकारों का आंदोलन जब व्यापक रूप से अस्तित्व में नहीं था, तब भी साहित्य में इसकी आवाजें थी।

कवि अज्ञेय (1911–1987) मानवीय स्वतंत्रता और गरिमा के बड़े समर्थकों मे एक थे। उनकी 'मानवीय स्वतंत्रता' में कितना स्पेस है, यह वन संपदा से संबंधित उनके इस कथन में देखा जा सकता है, ''वन संपदा–कोई भी प्राकृतिक संपदा मनुष्य के दोहन के लिए नहीं है और उसे केवल आय अथवा मुनाफे की दृष्टि से देखना अनर्थकार है, बल्कि एक तरह का आत्माघात है। वन इसलिए नहीं है कि उससे वन विभाग को आय हो, ठीक वैसे ही जैसे देश में जन (सिर्फ) इसलिए नहीं है कि उससे सरकार को आयकर की प्राप्ति हो सके।'' मानवाधिकार की धारणा के केंद्र में सिर्फ 'मानव' है, जो इस धारणा की एक सीमा है। यह 'मानव' आज और सीमित होकर पश्चिमी ढांचे के वैश्वीकरण की छाया में महज 'आधुनिक उपभोक्ता' में बदल जाता है। आज हम देख सकते हैं कि मनुष्य सबसे अधिक बाजार की कैद में है। बाजार अब अंततः एक सुंदर जेल है। चिंताजनक है कि इसके बाहर कोई दुनिया नहीं है। बड़ी वित्तीय पूंजी ने मनुष्य को बहुराष्ट्रीय कंपनियों का आखेट बना दिया है। ऐसी माया छाई है कि शिकार सम्मोहित होकर खुद शिकारी की तरफ खिंचा आता है। आज मनुष्य का आत्मसम्मान मुनाफाखोरों की भेंट चढ़ चुका है। कोई वैचारिक स्वतंत्रता नहीं है, आइडियोलॉजी पर टेक्नालॉजी हावी है। यह वह समय है, जब मानवाधिकार 'उपभोक्ता के अधिकार' तक सीमित है, अर्थात यदि आप उपभोक्ता नहीं हैं तो आपके पास मानवाधिकार भी नहीं हैं।

मानवाधिकार को यदि एक पांखड और बौद्धिक विलास नहीं बनना है तो इसे प्रथमतः भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं और साहित्य के संदर्भ में कुछ और खोलने की

जरूरत है। द्वितीयतः मानवाधिकार को बाजार की तानाशाही के संदर्भ में पुनपरिभाषित करने की जरूरत है। तभी इसे जनजागरण का एक अर्थपूर्ण औजार बनाया जा सकता है। मानवाधिकार मुख्यतः न्याय की अनुपस्थिति से जन्मा आंदोलन है। यह प्रशासन की संवेदनहीनता से टकरानेवाला अभियान है। मानवाधिकार कहते ही स्पष्ट हो जाता है कि समाज में न्याय नहीं हो रहा है। संवैधानिक अधिकार है, पर अधिकार हासिल नहीं हो रहा है। रसोईघर से लेकर खेत, अस्पताल, शिक्षा, खाद्य सुरक्षा और दफ्तर तक मानवाधिकार हनन के आज अनगिनत दृश्य हैं। यह दुनिया रोज अधिक असुरक्षित और वंचनाओं से भरी जगह होती जा रही है।

अब हालत इतनी पेचीदा है कि सभी बड़े अन्याय सुव्यवस्थित ढंग से हो रहे हैं और अधिकांश मामलों में विरोध हो नही पाता। इस समय विरोध की कोई असरदार आवाज नहीं हैं, बस सिर्फ कुछ प्रतीक बीच–बीच में उड़ते हैं। इस वजह से करोड़ों लोग असहाय हैं। वे समझ नहीं पाते कि उनके साथ कोई अन्याय हो रहा है। हमें पता है कि मानवाधिकार हनन के लाखों मामले जागरूकता के अभाव में राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के पास पहुंच नहीं पाते। अदालत में बिना मोटी रकम के न्याय नहीं मिलता। वर्षों तक सुनवाई चलती रहती है। यह खूब है कि आर्थिक सुधार की काफी चर्चा होती है, पर कोई आदमी और न्यायविद भूलकर भी न्यायिक सुधार की आवाज नहीं उठाता।

मानवाधिकार आयोग के पास कई किस्म के मामले पहंचते हैं। इन मामलों में कश्मीर में बुर्का न पहनने के जुर्म में आतंकवादियों द्वारा तीन लड़कियों को मार डालने की घटना से लेकर पत्रकारों, लेखकों और कलाकारों पर हमले और फर्जी मुठभेड़ में मारे जाने की घटनाएं शामिल हैं। आज कहा जाता है, कुपोषण है तो पॉप संगीत सुनो। इस पर बहस होनी चाहिए कि शीतलहरी और लू से मरना था गांवों का, दिल्ली एयरपोर्ट टर्मिनल थ्री के जमाने में बाढ़ से तबाह होना मानवाधिकार हनन का मामला है या नहीं।

आज खुद 'मानव' शब्द विघटित होता जा रहा है। अंध–राष्ट्रीय क्रूरताएं बढ़ी हैं। राजनीतिक हिंसा बढ़ी है और रोज हत्याएं हो रही हैं दूसरी तरफ, बौद्धिक स्वतंत्रता बाजार में गिरवी है। अब वे ही संघर्ष होते हैं, जिनके लिए कहीं से पैसा आता है, पेमेंट होता है, 'पेड स्ट्रगल' ! अब समाज में लोग सिर्फ 'समर्थक' या 'दुश्मन' के रूप में देखे जा रहे हैं, स्वाधीन होकर रहना मुश्किल हो गया है। असहमति का भविष्य अंधकारमय है। वैश्वीकरण के जमाने में चारों तरफ 'आजादी' और 'उन्मुक्तता' के दृश्य हैं, पर वास्तविकता यह है कि मनुष्य वैयक्तिकता, आजादी और विचाराधारा के साथ गरिमापूर्वक

जी नहीं पा रहा है। चारों तरफ भीषण असंतोष पर कोई प्रभावी आंदोलन नहीं हैं। इस परिदृश्य में मानवाधिकार आंदोलन को कुछ गिनचुने मुद्दों से विस्तृत करके किसी अलगाव की जगह जन आंदोलन के बीच से विकसित करने की जरूरत है। निश्चय ही विकास के नए अत्याचारों को पहचानकर मानवाधिकार आंदोलन का पुनर्गठन करना होगा, तभी इस आंदोलन को ताजगी मिलेगी, अन्यथा यह आंदोलन अंधेरे में क्षणभंगुर आतिशबाजी है।

* * * *

मानव अधिकार का दार्शनिक आधार : पाश्चात्य संदर्भ *

डॉ0 सरोज कुमार वर्मा

''प्रत्येक व्यक्ति बिना जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा सामाजिक उत्पत्ति, जन्म अथवा किसी दूसरे प्रकार के भेदभाव के इस घोषणा में व्यक्त किये हुए सभी अधिकारों और स्वतंत्रताओं का पात्र है। इसके अलावा किसी स्थान अथवा देश के साथ जिसका, वह व्यक्ति नागरिक है, राजनीतिक परिस्थिति के आधार पर भेद नहीं किया जायेगा, चाहे वह स्वतंत्र हो, संरक्षित हो अथवा स्वशासनाधिकार से विहीन हो, अथवा अन्य प्रकार से अल्प–प्रभु हो।''

–मानव अधिकारों का सार्वभौम घोषणा पत्र, अनुच्छेद–2

मानव अधिकार मूलतः एक पाश्चात्य संकल्पना है, जिसकी जड़ें भारत में भी गहराती गयी हैं। पश्चिम वाले इसकी शुरूआत 1215 में प्रकाशित ब्रिटेन के घोषणा–पत्र (डंहदं ब्तजं) से मानते हैं, जो अपनी परिपूर्णता को 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में पारित 'मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा–पत्र' के रूप में प्राप्त करती है। इस बीच के सात शताब्दियों के मार्ग पर कई ऐसे द्वार हैं जिन से होकर यह संकल्पना यहाँ तक पहुँच पायी। ये द्वार ब्रिटेन के 1679 का 'बंदी प्रत्यक्षीकरण अधिनियम', 1689 का 'अधिकार–पत्र' (ठपसस व ि त्पहीजे), 1776 की अमेरिका की स्वतंत्रता की घोषणा तथा 1789 की फ्रांसीसी अधिकारों की घोषणा आदि हैं। इनके बाद बर्लिन, कांग्रेस, ब्रुसेल्स सम्मेलन तथा 1899 एवं 1907 के हेग सम्मेलनों में मानवाधिकार विषयक विमर्शों एवं 1929 में अंतर्राष्ट्रीय विधि संस्थान द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मानव अधिकारों की घोषणा ने इस संकल्पना को आगे बढ़ाया। फिर द्वितीय विश्वयुद्ध के आघातों ने भी इसमें गति प्रदान की जिसमें 1941 के अटलांटिक चार्टर तथा 1942 की संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा से और त्वरा आई। इतना कुछ होने के बाद ही

*कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

मानवाधिकार की यात्रा अपने उत्स से अंजाम तक पहुंच पायी। 1945 में स्थापित संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी स्थापना के तीन वर्षों बाद संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग द्वारा प्रस्तुत मसौदे के आधार पर इसकी सार्वभौम घोषणा कर पाया। यह घोषणा प्रस्तावना सहित 30 अनुच्छेदों की है, जिनमें प्रथम दो मनुष्य के जन्मजा समान होने के अधिकार के साथ–साथ प्रत्येक व्यक्ति के साथ किसी भी कारण से भेदभाव नहीं किये जाने के अधिकार की स्वीकृति देता है तो 3सरा से 21वां अनुच्छेद उसके नागरिक एवं राजनीतिक अधिकारों को सुनिश्चित करता है। फिर 22वां से 27वां अनुच्छेद व्यक्ति के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों को तय करता है तो अंतिम दो अनुच्छेद समस्त मानवाधिकारों के सार्वभौम उपयोग हेतु एक वृहद् संरचनात्मक ढांचे का प्रावधान करता है। इस प्रकार सात सौ वर्षों में मानवाधिकार की संकल्पना अपना एक सुनिश्चित रूप ले पायी, हालांकि उसमें संशोधन–परिमार्जन उसके बाद भी होता रहा है और आगे भी होता रहेगा।

लेकिन सात सौ वर्ष पूर्व ब्रिटेन के जिस घोषणा–पत्र से मानव अधिकार की संकल्पना क्रियात्मक अभिव्यक्ति का रूप ले पाती है, ऐतिहासिक दृष्टि से पाश्चात्य जगत में उसकी पृष्ठभूमि उस अभिव्यक्ति से लगभग सोलह–सत्रह सौ वर्ष पूर्व से 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है' की घोषणा के साथ बनने लगी थी। यह घोषणा सोफिस्ट दार्शनिक प्रोटागोरस की थी। प्रोटागोरस सेफिस्ट दर्शन का संस्थापक था और उसका काल ई.पू. 490 से लेकर ई.पू. 420 तक का है। यह काल दार्शनिक दृष्टिकोण से उलझन भरा था। पूर्व के दार्शनिकों में एकमत नहीं था। मूल तत्त्व, जगत की उत्पत्ति, आदि विषयों को लेकर विवाद थे। कहीं कुछ निश्चित निर्धारण नहीं हो पा रहा था। इसलिए उस काल के लोग इन विवादों में पड़ने के बजाय उस ज्ञान की ओर उन्मुख हुए जिससे दैनिक जीवन के व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति होती है। इस क्रम में उन्हें यह ज्ञात हुआ कि निरपेक्ष नाम की कोई भी चीज सत्य नहीं है। सत्य वही है जिससे हमारा व्यावहारिक जीवन संभव हो पाता है। इसी पृष्ठभूमि में प्रोटागोरस ने मनुष्य के मापदंड होने की घोषणा की। उसने कहा कि मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है, इसलिए जो उसके सापेक्ष है उसका अस्तित्व है और जो नहीं है उसका अस्तित्व नहीं है। उसका यही कथन 'मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदंड है' के सिद्धांत के रूप में प्रचलित हुआ। यदि सूक्ष्मता से देखा जाये तो मानवाधिकार की अवधारणा की शुरूआत यहीं से होती है। यह ठीक है कि बाद के दार्शनिकों में प्रोटागोरस के 'मनुष्य' शब्द को लेकर मतभिन्नता रही। प्लेटो और अरस्तु ने उसे व्यक्तिवाचक माना तो गोम्पर्ज ने समूहवाचक और शीलर ने इन दोनों रूपों को समाहित करते हुए प्रोटागोरस के इस

सिद्धांत की मानवतावादी व्याख्या की। लेकिन इतना तय है कि प्रोटागोरस के इस कथन से मनुष्य चिंतन के केन्द्र में आ कर महिमामंडित हुआ। अतः मानवाधिकार की अवधारणा का आरंभ यहीं से माना जाना चाहिए। यही से विकसित होकर यह आधुनिक युग तक आती है, जहाँ लॉक और रूसो जैसे दार्शनिक इसके लिए ठोस दार्शनिक आधार निर्मित करते हैं।

इस आधार के निर्मित होने में जिस सिद्धांत ने अहम भूमिका निभाई वह अधिकार का प्राकृतिक सिद्धांत है। इस सिद्धांत के मुताबिक मनुष्य को कुछ अधिकार मनुष्य होने भर के नाते प्राप्त हैं, क्योंकि वे उन्हें जन्म के साथ लेकर पैदा होने के कारण प्रकृति–प्रदत हैं। अतः किसी भी परिस्थिति में, किसी के द्वारा, उन अधिकारों का हरण नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्रो0 ए.डी. आशीर्वादम कहते हैं कि –''वे उसी प्रकार मनुष्य की प्रकृति के भाग हैं, जिस प्रकार उनकी खाल का रंग ।''[1]

इस सिद्धांत का सबसे प्रबल समर्थक 17वीं सदी का अंग्रेज दार्शनिक जॉन लॉक है। लॉक ज्ञान–मीमांसा के दृष्टिकोण से अनुभववादी दार्शनिक था। अनुभववाद पाश्चात्य दर्शन का वह ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत है जो यह मानता है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार का ज्ञान अनुभव के द्वारा होता है। अतः अनुभव ही ज्ञान–प्राप्ति का प्रामाणिक साधन है। लॉक ने ऐसा बुद्धिवाद के विरोध में कहा था। बुद्धिवाद बुद्धि को ज्ञान–प्राप्ति का प्रामाणिक साधन मानता है। दरअसल पाश्चात्य दर्शन के विकास–क्रम में धर्म–केन्द्रित मध्ययुगीन दर्शन के प्रतिरोध में जिस आधुनिक दर्शन का विकास होता है वह दो भागों में बंटा हुआ है । एक बुद्धिवाद और दूसरा अनुभववाद। बुद्धिवाद का प्रणेता फ्रांस का दार्शनिक रेने डेकार्ट है और अनुभववाद का प्रणेता इंग्लैण्ड का दार्शनिक जॉन लॉक। डेकार्ट ने अपने बुद्धिवाद की स्थापना में यह कहा कि मनुष्य में कुछ प्रत्यय जन्मजात होते हैं, जिनके आधार बुद्धि ज्ञान प्राप्त करती है। लॉक ने इस स्थापना का खंडन करते हुए कहा कि कोई प्रत्यय जन्मजात नहीं होता, इसलिए मनुष्य को सारा ज्ञान अनुभव से प्राप्त होता है।

लॉक अपनी इसी ज्ञानमीमांसीय स्थापना को राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में इस्तेमाल करते हुए राजा के दैवी अधिकार, जिसके मुताबिक राजा को राज्य करने का अधिकार जन्म से ही प्राप्त होता है, को खारिज करते हुए यह प्रतिपादित करता है कि चूंकि प्राकृतिक दृष्टिकोण से सभी मनुष्य समान होते हैं, इसलिए जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति का अधिकार उसे अपने–आप मनुष्य होने भर के नाते प्राप्त हो जाते हैं। डॉ. ए. एम.घोष लॉक के इस सिद्धांत पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं– ''लौक ने राजाओं के

दैवी अधिकार के सिद्धांत (कि राज्य करने का अधिकार ईश्वर से प्राप्त होता है) का खंडन किया है; उनकी मान्यता यह है कि शासन का अधिकार तो शासितों की स्वैच्छिक स्वीकृति से जन्मता है।..... प्राकृतिक नियम की मान्यता में सबसे बड़ी बात यह है कि मनुष्य दैवी नगर के नागरिक हैं, जहाँ अपरिवर्त्य नियमों का परिचालन होता है (जहाँ परिचालित होनेवाले नियम अपरिवर्त्य होते हैं)। इन नियमों की खोज मानवीय विवेक द्वारा होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रकृति की दृष्टि में सभी मनुष्य परस्पर समान हैं। और चूंकि प्रकृति ने सब मनुष्यों को समान बनाया है, इसलिए राजनैतिक राज्य का अस्तित्व उन सभी लोगों की सहमति अथवा अनुबंध द्वारा संभव हो सकता है जिसमें वे सभी मनुष्य अपने कतिपय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु भागीदार होते हैं। कतिपय मनुष्यों ने दूसरे के शासन में रहना स्वीकार कर लिया था। सामाजिक अनुबंध (वबपंस बवदजतंबज) का सिद्धांत, इस प्रकार, प्राकृत नियम के सिद्धांत के साथ घनिष्ट रूप से संबद्ध था।''[2]

लॉक अपने राजनैतिक चिंतन में प्रेम, दया, विवेक और नीति संपन्न मानव स्वभाव की चर्चा करते हुए एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था का वर्णन करता है जिसमें मनुष्य शांति, सहयोग, सद्भाव और सुरक्षा के साथ रहता था। लॉक के अनुसार यह प्राकृतिक अवस्था उस प्राकृतिक नियम से संचालित होती थी जो विवेकयुक्त मनुष्य को, सभी मनुष्यों के समान और स्वतंत्र होने के कारण किसी भी मनुष्य को किसी दूसरे मनुष्य के जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति को नुकसान नहीं पहुंचाने की सीख देता था। डॉ. एस. सी. सिंहल के शब्दों में – ''लॉक ने प्राकृतिक नियम की नैतिक व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए कहा है कि– प्राकृतिक अवस्था को शामिल करने के लिए प्राकृतिक नियम होता है जो प्रत्येक को बाध्य करता है और प्रज्ञा अर्थात् विवेक जो कि उस कानून का ही दूसरा नाम है, संपूर्ण मानव समाज को, जो उसका प्रायः पालन करता है, यह सिखाता है कि सब लोग समान तथा स्वतंत्र हैं, इसलिए किसी को भी दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य, स्वतंत्रता एवं संपत्ति को क्षति नहीं पहुंचानी चाहिए।''[3] लॉक का यह कथन मानवाधिकार का प्रस्थान–विन्दु है।

यद्यपि लॉक ने इस प्राकृतिक अवस्था की कठिनाईयों, जो कि– प्राकृतिक नियम की अस्पष्टता, इन नियमों की निष्पक्ष व्याख्याकार की कमी तथा इन नियमों को लागू करने वाले शक्तिशाली सत्ता का अभाव– थे, के कारण इन्हें दूर करने के लिए मनुष्यों के आपसी समझौते के आधार पर समाज और राज्य के निर्माण का विचार दिया, लेकिन इन दोनों संस्थाओं में से किन्हीं के पास उतने असीम अधिकार नहीं दिये गये कि वह किसी भी व्यक्ति के जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता को नष्ट कर दे। उनके

अधिकार सीमित रहे और उनका दायित्व व्यक्ति के जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता की सुरक्षा करना ही रहा। लॉक के अनुसार समाज और राज्य के निर्माण के लिए मनुष्यों के बीच दो समझौते हुए। एक समझौता मनुष्यों द्वारा आपस में हुआ जिससे समाज का निर्माण हुआ। इस समझौते द्वारा व्यक्ति के जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता की सुरक्षा का अधिकार समाज को देते हुए यह प्रावधान किया गया कि जो व्यक्ति भी इन अधिकारों का उल्लंघन करेगा, समाज उन्हें दंडित करेगा। और दूसरा समझौता, इस पहले समझौता द्वारा बने समाज द्वारा किसी व्यक्ति को शासक चयनित कर, उस शासक के साथ किया गया जिसमें उसे कुछ अधिकार सौंपे गये। इससे राज्य की उत्पत्ति हुई। परन्तु राज्य को दिये गये अधिकार के साथ–साथ यह प्रावधान भी किया गया कि यदि राज्य समझौते की शर्तों को निष्ठा के साथ लागू नहीं करता हो, अथवा प्राकृतिक तथा सामाजिक जीवन में बाधा पहुंचाने वाले कानून बनाता हो या फिर जनता के प्रति उपेक्षा, अन्याय तथा अपमानजनक व्यवहार करे तो समाज को यह अधिकार होगा कि वह उस शासक को हटा कर दूसरे शासक को नियुक्त करे। इस प्रकार समाज और राज्य दोनों के अधिकार सीमित रहे और किन्हीं के पास व्यक्ति के जीवन, संपत्ति और स्वतंत्रता के अधिकार को, जो उसे मानव होने के नाते प्राप्त हैं, नष्ट करने का अधिकार नहीं दिया गया। लॉक का यही व्यक्ति, समाज और राज्य विषयक विचार मानव अधिकार का ठोस दार्शनिक आधार बना।

लॉक के पहले थॉमस हॉब्स ने भी, जो कि इंग्लैण्ड का ही 17वीं सदी का ही दार्शनिक था, मानव स्वभाव और प्राकृतिक अवस्था की विवेचना करते हुए प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अधिकार और सामाजिक समझौते द्वारा राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत प्रतिपादित किये थे। अपने इस प्रतिपादन में हॉब्स ने यह बताया था कि मानव स्वभाव से स्वार्थी, ईर्ष्यालु और निरंतर लड़ते–झगड़ते रहने वाला असामाजिक प्राणी है। वह हमेशा ज्यादा से ज्यादा ताकत प्राप्त करने के प्रयास में लगा रहता है ताकि संघर्ष में वह दूसरे पर विजय प्राप्त कर सके। हॉब्स के अनुसार प्रतिस्पर्धा, भय और वैभव के चलते मनुष्य सदैव संघर्ष करता रहता है। इसलिए प्राकृतिक अवस्था लगातार युद्ध की अवस्था थी और उसमें हर मनुष्य दूसरे मनुष्य का दुश्मन था। ऐसी स्थिति में किसी भी मनुष्य का यही प्राकृतिक अधिकार था कि वह अपने जीवन की सुरक्षा के लिए कुछ भी करे, दूसरे को लूटे, मारे या फिर उसकी हत्या ही कर दे। इस प्रकार हॉब्स के मुताबिक मनुष्य को अपने जीवन–रक्षा के लिए हिंसा और हत्या करने का भी अधिकार है। परन्तु चूंकि यह अधिकार सभी मनुष्यों के पास है, जिसका उपयोग करने से जीवन असुरक्षित हो जाता है इसलिए प्राकृतिक नियम यह है कि मनुष्य ऐसा कोई कार्य न

करे जिससे जीवन असुरक्षित हो जाये। डॉ. एस.सी.सिंहल हॉब्स को उद्धृत करते हुए इस संबंध में लिखते हैं– ''हॉब्स ने प्राकृतिक नियम की परिभाषा देते हुए कहा है कि– यह वह नियम है जो विवेक द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य निषिद्ध हैं जो उनके जीवन के लिए विनाशप्रद हैं या जिनसे जीवन की रक्षा के साधनों का हरण होता है और जिनके द्वारा उसके लिए उन कार्यों का न करना निषिद्ध है जिनसे जीवन की रक्षा होती है।''[4] परन्तु इस नियम को हॉब्स कानून की संज्ञा नहीं देता। हॉब्स के अनुसार कानून संप्रभु का आदेश होता है और संप्रभु राज्य का शासक होता है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में हॉब्स का कहना है कि चूंकि प्राकृतिक अवस्था बेहद अराजक थी, हमेशा लूट–मार मची रहती थी, इसलिए यह अवस्था मनुष्य के लिए सुखकर नहीं थी। वह इसमें रहते हुए लगातार दुख भोग रहा था। अतः इस दुख से उबरने के लिए उसने आपस में एक समझौता किया, जिससे राज्य की उत्पत्ति हुई। इस समझौते में प्रत्येक मनुष्य द्वारा शांतिपूर्वक और सुरक्षित रहने के लिए किसी एक मनुष्य अथवा जनसभा को अपने ऊपर शासन करने का अधिकार दिया गया। परन्तु जिस जनसभा अथवा मनुष्य को यह अधिकार दिया गया वह इस समझौते से नहीं बंधा। इसलिए वह निरंकुश सत्ता संप्रभु बना और इस समझौते से बंधे हुए सारे मनुष्य उसकी प्रजा बने। हॉब्स ने इस संप्रभु को लेवियाथन (स्मअपंजींद) कहा। परन्तु संप्रभु को निरंकुश मानने के बावजूद हॉब्स ने प्रजा के पास यह अधिकार सुरक्षित रहने दिया कि यदि संप्रभु किसी मनुष्य को स्वयं की हत्या करने अथवा दूसरे द्वारा हमला किये जाने पर उसका विरोध न करने का आदेश दे, तो वह मनुष्य संप्रभु के आदेश का उल्लंघन कर सकता है। इसके अलावा यदि संप्रभु व्यक्ति के भोजन, इलाज, हवा, पानी आदि पर प्रतिबंध लगाये, अथवा किसी दूसरे व्यक्ति को मारने की आज्ञा दे तो वह व्यक्ति संप्रभु की आज्ञा नहीं मानने के लिए स्वतंत्र है। फिर जान जाने के डर से युद्ध से भाग आने तथा अपने दोषों को इन्कार करने के मामले में भी कोई व्यक्ति संप्रभु की आज्ञा का उल्लंघन कर सकता है।

इस प्रकार हॉब्स ने मनुष्य के बुरे स्वभाव, बदतर प्राकृतिक अवस्था और निरंकुश संप्रभु का समर्थक होने के बावजूद मनुष्य के जीवन के अधिकार को सर्वोपरि माना। इसीलिए उसके इस विचार को मानवाधिकार के आधार के रूप में स्वीकृत किया गया। यद्यपि तुलनात्मक ढंग से हॉब्स का विचार लॉक की अपेक्षा मनुष्य के पास मनुष्य होने के नाते कम अधिकार होने का हिमायती है, फिर भी चूंकि वह जीवन के अधिकार को प्राकृतिक मानते हुए उसके सर्वोपरि होने की घोषणा करता है और किसी

भी हाल में उसे संप्रभु को सौंपने की इजाजत नहीं देता, इसलिए उसके विचार को मानवाधिकार को मजबूत करनेवाले सिद्धांत की श्रेणी में रखा गया ।

फिर लॉक के बाद 18वीं सदी का फ्रांसीसी दार्शनिक जीन जैक्विस रूसो के विचारों में भी मानवाधिकार को संबल प्रदान करने वाले तत्त्व हैं। रूसो ने भी अपने विचारों में मानव स्वभाव तथा प्राकृतिक अवस्था की चर्चा करते हुए समाज और राज्य की उत्पत्ति विषयक सिद्धांत प्रस्तुत किये है। इस क्रम में उसने मनुष्य को निर्दोष, निष्पाप और पशु के समान माना है। उसके अनुसार मनुष्य स्वभावतः अच्छा होता है और उसमें संपत्ति संग्रह की कोई इच्छा नहीं होती। वह स्वभाव से स्वतंत्र और नैतिकता के विचारों से रहित होता है। उसमे विवेक नहीं होता। लेकिन समानता की भावना होती है। मनुष्य को ऐसा मानने के कारण ही रूसो ने प्राकृतिक अवस्था को भी वैसी अवस्था माना है जिसमें मनुष्य पूरी तरह स्वतंत्र और समान था। इसलिए इस अवस्था में वह भय और चिंता से मुक्त होकर सरल और निश्चिन्त जीवन जीता था। तब वह आत्मनिर्भर होने के कारण अपना मालिक था और दूसरे को न्यूनतम नुकसान पहुंचाते हुए अपना हित करने में लगा रहता था। परन्तु यह प्राकृतिक अवस्था, जो रूसो के मुताबिक स्वर्ग–तुल्य था, समाप्त हो गयी । सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्य की जरूरतों ने पांव फैलाने शुरू कर दिये। फलतः उसमें धन प्राप्त करने की इच्छा भी पैदा हुई और तेरे–मेरे का भाव भी उत्पन्न हुआ। फिर उसे हथियार बनाने, शिकार करने, आग जलाने, खेती करने और कपड़ा पहनने का ज्ञान भी हो गया। इससे मनुष्यों में अहंकार के साथ–साथ भेद–भाव की भावना ने भी जन्म ले लिया। इसके चलते मनुष्य हिंसक और आक्रामक हो गया । इसकी परिणति अराजकता में हुई। शांत और सुखद प्राकृतिक अवस्था अशांत और अराजक हो गई।

इसी अराजकता को दूर करने के लिए मनुष्यों ने आपसी समझौते के द्वारा समाज तथा राज्य का निर्माण किया । डॉ. एस. सी. सिंहल के शब्दों में – ''रूसो का विचार है कि अराजक दशा को समाप्त करने के लिए प्राकृतिक मनुष्यों ने एक समझौता किया और यह निश्चय किया कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता, अधिकार और शक्ति समाज को सौंप दे क्योंकि समाज व्यक्तियों का समूह है और समाज का निर्माण व्यक्तियों की सहमति से हुआ है। अतः मनुष्य अपनी जिस स्वतंत्रता, अधिकार और शक्ति को अपने से अलग करके समाज को सौंपता है, उसे वह समाज का सदस्य (अंग) होने के नाते पुनः प्राप्त कर लेता है। वह एक हाथ से अपनी स्वतंत्रता समाज को प्रदान करता है और दूसरे हाथ से समाज का अंग होने के नाते उसे वापस ले लेता है। इस समझौते का परिणाम यह हुआ कि समूह के प्रत्येक सदस्य का जीवन और

उसकी स्वतंत्रता सुरक्षित हो गयी और वह समष्टि रूप में समाज की सामान्य इच्छा पर स्थापित हो गयी। चूंकि व्यक्तियों ने सामूहिक रूप से समाज का निर्माण किया इसलिए प्रत्येक व्यक्ति उस सामूहिक शक्ति का बराबर साझेदार हुआ। ... इस तरह रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक प्राकृतिक अवस्था को समाप्त करने के लिए जो समझौते करते हैं वे दो पक्षों के बीच होती है। एक पक्ष उनके व्यक्तिगत जीवन का और दूसरा पक्ष उनके सामूहिक जीवन का है। अतः वे व्यक्तिगत रूप से जो गंवाते हैं उसे समझौते के फलस्वरूप सामूहिक रूप से पुनः प्राप्त कर लेते हैं।.... रूसो आगे बताता है कि – जो कुछ समझौते से मनुष्य खोता है वह है प्राकृतिक स्वतंत्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार । जो कुछ वह पाता है वह है सामाजिक स्वतंत्रता और अपनी वस्तुओं पर स्वामित्व ।''[5]

रूसो इसी समझौते के आधार पर राज्य की भी विवेचना करता है और कहता है कि समझौते से उत्पन्न सामूहिक एकता ही राज्य या संप्रभु है। उसके मुताबिक इस समझौते से जिस सामान्य इच्छा की उत्पत्ति होती है वही संप्रभु है। परन्तु यह संप्रभु सरकार नहीं है। रूसो राज्य और सरकार में अंतर करते हुए बताता है कि इस सर्वोच्च सामान्य इच्छा को व्यक्त करनेवाला सारा नागरिक समाज राज्य है और इस इच्छा के क्रियान्वयन के लिए समूह द्वारा जिस व्यक्ति का चयन किया जाता है वह सरकार का निर्माण करता है । लेकिन इतना कुछ कहने के बावजूद रूसो मनुष्य की स्वतंत्रता को सर्वोपरि मानता है। उसके मुताबिक स्वतंत्रता मनुष्य का परम आंतरिक तत्त्व है। इसलिए यह मनुष्यता का अनिवार्य गुण है और उसे नष्ट कर देने पर मनुष्यता भी नष्ट हो जायेगी। इस मान्यता के कारण रूसो कानून को भी, जो कि उसके अनुसार संपूर्ण जनता से जुड़े मामलों से जुड़े होने के कारण संपूर्ण जनता के लिए प्रस्ताव है, मनुष्य की स्वतंत्रता को नष्ट करने की अनुमति नहीं देता। इस प्रकार रूसो के समझौता से निर्मित समाज और राज्य में भी मनुष्य, समझौता के पूर्व जितना स्वतंत्र था, समझौतों के बाद भी उतना ही स्वतंत्र रहता है। रूसो का यही प्रतिपादन मानवाधिकार की मजबूत आधारशिला के रूप में निर्मित हुआ।

इस प्रकार हॉब्स, लॉक और रूसो मानवाधिकार विषयक अधिकार के प्राकृतिक सिद्धांत के प्रमुख प्रवक्ता हैं। इनके अलावा मिल्टन, वाल्टेयर, दीदरो, स्पेन्सर तथा माण्टेस्क्यू आदि ने भी इस सिद्धांत का समर्थन किया है, जैसा कि डॉ. जी. पी. नेमा और डॉ. के.के. शर्मा लिखते भी हैं– ''अंग्रेजी दार्शनिक जॉन लॉक, जिसे आधुनिक काल का महत्वपूर्ण प्राकृतिक विधि विचारक कहा जाता है कि भूमिका को इस सिद्धांत के मूल में उल्लेखनीय कहा जा सकता है। अन्य दार्शनिकों में वाल्टेयर, जीन जैम्स

रूसो एवं मॉण्टेस्क्यू का योगदान भी सराहनीय है। जॉन लॉक (जो 1688 की वैभवशाली क्रांति से संबद्ध थे) ने अपने विचारों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि कुछ ऐसे अधिकार हैं जो मानव को मानव होने के नाते ही उपलब्ध होते हैं। जीवन जीने का अधिकार, संपत्ति का अधिकार और स्वतंत्रता का अधिकार– कुछ ऐसे अधिकार हैं जो स्वतः प्राप्त होते हैं। जैसे ही सामाजिक समझौते के तहत मानव ने सिविल समाज में प्रवेश किया तो उस दौरान राज्य के पक्ष में मानव ने उन अधिकारों के पुनः प्रवर्तन (त्मअपअंस) को स्वीकार किया। प्राकृतिक अधिकार सिद्धांत के संदर्भ में एलेन पैजेल्स के विचारों को उद्धृत करना बेहतर होगा, ''व्यक्ति के पास अधिकार है; समाज पर या समाज के विरूद्ध दावा है कि समाज इन अधिकारों को अवश्य मान्यता प्रदान करे, जिस पर वह कार्य के लिए बाध्य है, मानव के अंतरस्थ हैं।'' इस परिभाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव को मानव होने के नाते ही कुछ मानव अधिकार प्राप्त होते हैं और राज्य के लिए इन्हें लागू करना अपरिहार्य हो जाता है। राज्य इन अधिकारों को सुनिश्चित नहीं कर पाता है तो भी इस समझौते के अंतर्गत उसे अपने नागरिकों के हितों की रक्षा करनी चाहिए। इस आशय से भी एक जिम्मेदार और लोकप्रिय राज्य–शक्ति का उदय होता है। इस प्रकारा प्राकृतिक आधार पर मानवाधिकारों का प्रारंभ हो जाता है।''[6]

परन्तु अधिकार का विधिजन्य सिद्धांत इस प्राकृतिक अधिकार को स्वीकार नहीं करता, यद्यपि कि यह भी मानवाधिकार को पुष्पित–पल्लवित करने में पर्याप्त खाद–पानी देता है। इस विधिजन्य सिद्धांत का प्रवर्तक 18वीं सदी का ब्रिटिश दार्शनिक जेरेमी बेंथम है। बेंथम नीतिमीमांसीय दृष्टिकोण से सुखवादी दार्शनिक था। सुखवाद पाश्चात्य नीतिशास्त्र का वह सिद्धांत है जो यह मानता है कि सुख ही मनुष्य के क्रिया–कलापों का मूल प्रेरक तत्व है, क्योंकि मनुष्य स्वभाव से ही सुख प्राप्त करना चाहता है और दुख से बचना चाहता है। इसलिए उसे वही करना चाहिए जिससे सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार इस सिद्धांत के मुताबिक सुख ही हमारा अंतिम लक्ष्य है। लेकिन ऐसा मानने वाले सुखवादियों में भी एक वर्ग सिर्फ अपने सुख की बात करता है जबकि दूसरा वर्ग दूसरे के सुख की भी चिंता लेता है। इस दूसरे वर्ग के सुखवादियों को उपयोगितावादी कहा जाता है। बेंथम इसी उपयोगितावाद का समर्थक था। उसने अपने इस उपयोगितावाद को 'अधिकतम लोगों के लिए अधिकतम सुख' के सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित किया, क्योंकि उसके अनुसार सामाजिक प्राणी होने के कारण मनुष्य सिर्फ अपने सुख से ही नहीं बल्कि दूसरे के सुख से भी सुखी होता है। परन्तु चूंकि वह सबको सुखी नहीं कर सकता, इसलिए उसे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुखी

करने का प्रयास करना चाहिए। बेंथम ने अपने इसी उपयोगितावादी नीतिमीमांसीय सिद्धांत को राजनीति के क्षेत्र में लागू करते हुए यह कहा कि राज्य का काम भी अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पहुंचाना ही है। प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी के शब्दों में – ''उपयोगितावाद मूलतः एक आचार विषयक सिद्धांत है। राजनीतिक क्षेत्र मे इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि राज्य को केवल वही कार्य करना चाहिए जिससे अधिकतम लोगों को अधिकतम लाभ पहुंचे। राज्य, कानून और शासन सभी के मूल में बेंथम उपयोगितावाद को ही निहित मानता है। इन सभी की उपादेयता इनके सुखदायी कार्यों के लिए ही है।''[7]

बेंथम राज्य को व्यक्तियों द्वारा गठित वह समूह मानता है जिसका काम व्यक्तियों के लिए उपयोगिता यानी सुख को बनाये रखना तथा बढ़ाना है। इसीलिए वह यह भी कहता है कि व्यक्ति को राज्य की सत्ता को स्वीकारना और उसके आदेशों को मानना चाहिए, क्योंकि राज्य में रह कर ही वह दुखों से बच कर सुखों का उपभोग कर सकता है। बेंथम सामाजिक समझौते द्वारा राज्य के निर्माण विषयक विचार को खारिज करते हुए यह कहता है कि राज्य का निर्माण किसी समझौते के कारण नहीं बल्कि उपयोगिता के लिए हुआ है। बेंथम के ऐसा कहने के पीछे उसका किसी भी 'प्राकृतिक अवस्था' को इंकार करने का तर्क भी है। उसके मुताबिक कोई ऐसी प्राकृतिक अवस्था नहीं है जहाँ मनुष्य किसी अधिकार के साथ पैदा होता है। अधिकारों का निर्माण तो राज्य और कानून के द्वारा होता है। अतः राज्य की उत्पत्ति के पहले किसी प्रकार के अधिकार की कोई संभावना ही नहीं बनती। इसीलिए मनुष्यों ने राज्य का निर्माण किया ताकि वह उसे दुखों से बचाकर सुख दे सके। यही कारण है कि बेंथम राज्य के द्वारा बनाये गये कानून के बारे में कहता है कि उसकी सार्थकता इसी में है कि वह उपयोगिता की कसौटी पर खरा उतरे। और यह तब हो सकता है जब कानून सामाजिक उपयोग और सुख में वृद्धि करनेवाले अधिकारों को मान्यता दे। बेंथम राज्य के कानूनों द्वारा मान्यता प्राप्त अधिकार को सुखी जीवन का नियम मानता है। परन्तु इतना कुछ मानने के बावजूद बेंथम राज्य की शक्तियों को असीम नहीं मानता । इसलिए वह नागरिक को यह अधिकार देता है कि यदि राज्य उपयोगिता के मापदंड पर खरा नहीं उतरे और वह ऐसा और इतना कानून बनाये कि उससे अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख बाधित हो और बहुसंख्यक नागरिकों के दुख में वृद्धि हो तो वह राज्य की आज्ञा का उल्लंघन करते हुए कानून को मानने से इंकार कर सकता है। बेंथम द्वारा दिया गया यह अधिकार मानवाधिकार के विकास की पृष्ठभूमि बनता है। ऐसा करने से मानवाधिकार विधि और कानून के दायरे में आ जाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मानवाधिकार का ठोस दार्शनिक आधार है। इसी आधार पर पिछले चार सौ वर्षों में मानवाधिकार की संकल्पना विकसित होती रही है। इस विकास के फलस्वरूप इसकी शाखायें इतनी लंबी और घनी हो सकी हैं कि लोग इसकी छांव में सुस्ताने लगे हैं। पिछली सदी का अमेरिकी दार्शनिक जॉन बोर्डले रॉल्स भी इसी आधार पर अपनी न्याय की अवधारणा प्रतिपादित कर पाया है, जिसके चलते उसे मानवाधिकार का विशिष्ट पैरोकार माना जाता है। रॉल्स ने हॉब्स, लॉक और रूसो के सामाजिक समझौते के सिद्धांत तथा काण्ट के नैतिक सिद्धांत के सूत्र लेकर व्यक्ति की स्वतंत्रता को परम मानते हुए सभी के साथ समान व्यवहार तथा समान वितरण संबंधी अपने न्याय का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उसका यह सिद्धांत सामाजिक न्याय की अवधारणा के रूप में स्थापित हुआ। प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी का इस संबंध में कहना है– ''रॉल्स सामाजिक न्याय का प्रबल पक्षधर है। वह इसी को न्याय का प्रमुख अवलंब मानता है। उसका आशय सामाजिक जीवन में न्याय के माध्यम से समान एवं समन्वित प्रगति की व्यवस्था करना है। अवसर एवं सुविधाओं के न्यायोचित वितरण से इसकी प्राप्ति होती है। उसने न्याय के मूलतः दो सिद्धांतों को स्वीकृति प्रदान थी है : 1. न्याय के प्रथम सिद्धांत के अंतर्गत सभी को समान रूप से अवसर की स्वतंत्रता होनी चाहिए। इसमें उन सभी स्वतंत्रताओं को सम्मिलित कर सकते हैं जो उदार लोकतंत्रीय प्रणाली के अंतर्गत् पाये जाते हैं। 2. सामाजिक एवं आर्थिक असमानता को इस रूप में व्यवस्थित किया जाना चाहिए जिससे समाज में हीनतम स्थिति वाले लोगों को अधिकतम हित हो सके।''[8] रॉल्स के ये सिद्धांत मानवाधिकारों को उर्वरता प्रदान करते हैं। इस बात की पुष्टि न्यायमूर्ति के.जी. बालाकृष्णन ने इस कथन से भी होती है कि – ''अमरीकी दार्शनिक जॉन राल्स लिखते है कि सामाजिक न्याय इस धारणा पर आधारित है कि किसी समाज को तभी समतावादी माना जा सकता है जब वह समानता और एकजुटता के सिद्धांत पर आधारित हो और वहां मानवाधिकारों का सम्मान तथा प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान की रक्षा की जाती हो।''[9]

परन्तु अफसोस की बात है कि इतना सुदृढ़ दार्शनिक आधार और शताब्दियों के लंबे प्रयास के बावजूद मानवाधिकारों की सुरक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता अभी तक नहीं मिल पायी है। समूची दुनिया में व्यापक स्तर पर मानवाधिकारों का होनवाला हनन इसका सबूत है। डॉ. एस.सी. सिंहल इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं– ''यह एक विडंबना ही है कि संयुक्त राष्ट्र मानवाधिकार आयोग का कार्यक्षेत्र आयु बढ़ने के साथ–साथ बढ़ने के स्थान पर संकुचित होता जा रहा है। वह अपने उद्देश्य को

प्राप्त करने में असफल रहा है। यह सत्य है कि आज समस्त विश्व में मानवाधिकारों का व्यापक स्तर पर हनन हो रहा है, इस संदर्भ में एमनेस्टी इण्टरनेशनल 1995 की रिपोर्ट उल्लेखनीय है । इसमें 150 देशों में मानवाधिकार की स्थिति की समीक्षा की गई थी। इसमें उग्रवादी संगठनों और सरकारी दमन तंत्र की विवेचना की गयी। इस रिपोर्ट में सभी दक्षिण एशियाई देशों सहित विश्व के 141 देशों पर मानवाधिकारों के उल्लंघन का आरोप लगाया गया। पामर और पार्किन्स के शब्दों में – विश्व के कुछ ही भागों में मानव अधिकार तथा आधारभूत स्वतंत्रताएं वास्तव में सुरक्षित हैं, अधिकांश क्षेत्रों में तो अभी इसका कोई अर्थ नहीं है।''[10] वह इसलिए कि मानवाधिकारों के कार्यान्वयन के लिए कोई कानूनी बाध्यता नहीं है। अतः इसकी समुचित सफलता के लिए इसकी घोषणा को सिर्फ शब्दों तक सीमित न रखकर कुछ यर्थाथवादी व्यावहारिक उपक्रम भी किया जाना जरूरी है। इसलिए दुष्यंत कुमार की इन पंक्तियों से बात समाप्त करना लाजिमी होगा कि –

''इस रास्ते के नाम लिखो एक शाम और ।
या इसमें रोशनी का करो इंतजाम और ।
आंधी में सिर्फ हम ही उखड़ कर नहीं गिरे,
हमसे जुड़ा हुआ था कोई एक नाम और।''

संन्दर्भ :

1. ऐ.डी. आशीर्वादम; 'पॉलिटिकल थ्योरी', पृ–150; दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ; 1976
2. ए.एम. घोष, ''लॉक''; 'पाश्चात्य दर्शन का इतिहास (खण्ड–2)', पृ–168–169; राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर; 1984
3. डॉ. एस.सी. सिंहल; 'प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक', पृ–183; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, अनुपम प्लाजा–1, ब्लॉक नं.–50, संजय प्लेस, आगरा–282002; 2010
4. वही, पृ–167
5. वही, पृ–202–203
6. वही, पृ–2

7. प्रो. श्रीप्रकाश मणि त्रिपाठी; 'समकालीन राजनीतिक चिंतन', पृ–5; राज पब्लिकेशन्स, 108, 4855/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–110002, 2011

8. वही, पृ–585–586

9. न्यायमूर्ति के.जी. बालकृष्णन; ''सपना समतामूलक समाज का'', 'योजना', वर्ष–55, अंक–4, अप्रैल 2011, पृ–6; 538, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली–110001

10. डॉ. एस.सी. सिंहल; ''समकालीन राजनीतिक मुद्दे', पृ–103; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, अनुपम प्लाजा, आगरा–2; 2005–06

* * * *

समाजिक विकास के साहित्यिक संदर्भ : एक वैचारिकी*

कुसुम खेमानी

यदि हम बहुत ही घिसे–पिटे से जुमले 'साहित्य समाज का दर्पण है' को दरकिनार कर भी दें, तो भी इस संदर्भ से तो मुक्त नहीं ही हो सकते हैं कि मैं जो आज माइक के सामने खड़ी हूँ या कि आप सब विद्वज्जनों का जो समाज यहाँ उपस्थित हुआ है– वह केवल और केवल साहित्य के बहुआयामी दृष्टिकोण के कारण ही सम्भव हुआ है।

यदि 'मेरा रंग दे बसन्ती चोला' गाते हुए क्रांतिकारी फाँसी पर न झूल गए होते या कि 'वन्देमातरम् का नारा लगाते हुए असंख्य नौजवान तिरंगा फहराने आगे न बढ़ते या कि गांधी केवल 'हिंद स्वराज' ही नहीं; अनेकानेक रूपों में साहित्य का सही प्रयोग करते हुए अहिंसा की लड़ाई लड़कर हमें स्वतंत्र न कराते तो हमारी क्या बिसात थी। कि आज हम यहाँ यों एकत्रित होकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के तहत अपने विचार रख पाते।

जरा ध्यान दें कि मार्टिन लूथर किंग का 'हम होंगे कामयाब' आधुनिक विश्व में चेतना जगाने का मूल–मंत्र बन गया है। जिन्होंने इसे सुर दिया है– ने अपने कलकत्ता प्रवास में हमें

बताया कि इस गीत को मिटा देने के लिए किस–किस तरह से उन पर हमले किए गए। यहाँ तक कि एक बार तो उनके पंडाल में आग भी लगा दी गई और वे अपना गिटार वहीं छोड़ कर भाग गये। यह बात इतर है कि, फिर गिटार की बड़ी भारी कीमत हो गई।

महादेवी वर्मा के सम्पादन में चाँद का 'फाँसी' अंक जब्त किया गया। बोरिस

***कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख**

पास्तरनाक, सोल्झेनितस्न और विश्व के अनेकानेक लेखकों को जेलों में यातनाएं दी गई। क्योंकि उनका साहित्य मनुष्य के विकास की बात कर रहा था। जनमानस को जागृत कर रहा था। चीन का नृशंसतम नरसंहार 'थ्यानमान चौक' पर पढ़े–लिखे विद्यार्थियों के खिलाफ इसलिए घटाया गया क्योंकि साहित्य में ही वह 'असीम' शक्ति है जो मनुष्य के मानस में पैठकर उसका विवेक जागृत कर उसे सही–गलत का, अच्छे–बुरे का, और उसके कर्त्तव्य और अधिकारों का ज्ञान करवाती है।

शायद आप सबने यह वाकया सुन रखा होगा कि इंग्लैंड के एक इतिहासकार दीर्घ समय से इतिहास लिख रहे थे कि एक दिन अपने सामने घटी घटना का ब्यौरा जब उन्होंने अन्य लोगों से सुना तो उन्हें अपने शोध की निरर्थकता का अहसास हुआ। क्योंकि हर व्यक्ति उनको अपनी आंखों देखी की भिन्न कहानी सुना रहा था। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उस घटना का अपना अलग ही इतिहास रच रहा था, बता रहा था और उन्होंने अपने कई युगों के परिश्रम को यह कह कर जला डाला कि यदि किसी काल विशेष के बारे में जानना है, तो उस समय का साहित्य पढ़ना चाहिए, क्योंकि साहित्य आम आदमी की कथा कहता है और इतिहास राजा–महाराजाओं का प्रशस्ति वाचन करता है।

वैसे तो साहित्य अपने विशेष युग समाज और परिवेश से उत्पन्न होता है, लेकिन उसमें युग–बोध के अतिरिक्त युगान्तर बोध भी रहता है। वह अतीत के शाश्वत जीवन–मूल्यों को वर्त्तमान की गंगा–युमना में प्रक्षालित करता है। जिसके अन्तस् में भविष्य रूपी सरस्वती भी अन्त सलिला के रूप में विद्यमान रहती है।

सच्चा साहित्य व्यक्ति को समष्टि से एकाकार करने वाली एक निरंतर गतिमान् धारा है। साहित्यकार को 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू' इसीलिए माना गया है; क्योंकि वह सब कालखंडों का संकलन करता है।

सामाजिक विकास में साहित्य कितना महत्त्वपूर्ण है यह मात्र इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो सकता है कि आज कोई भी युद्धप्रिय तथा विज्ञान के चरमबिंदु तक पहुँचा हुआ देश भी यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है कि उसके पास साहित्य नहीं है। या उसे साहित्यकार की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि साहित्य मनुष्य के विकास का एक ऐसा अभिन्न साथी रहा है जिसका अभाव बर्बरता या असभ्यता का पर्याय माना जाता है। यही कारण है कि बावजूद साहित्य को अपनी प्रवृत्ति के अनुरूप ढालने के सभी वैध–अवैध प्रयास करते हुए भी प्रत्येक देश अपने यहाँ उसकी उच्च स्थिति को स्वीकार करते दिखते हैं।

साहित्य का सृजनकर्त्ता साहित्यकार क्रांतदृष्टा एवं स्रष्टा दोनों की भूमिका निबाहता है। वह अपने विवेक–चक्षुओं से तात्कालिक समस्याओं को जांच–परख कर उनकी विवेचना करता हुआ जो समाधान प्रस्तुत करता है; वही भविष्य के रचनात्मक एवं सकारात्मक कार्यों की नींव रखते हैं। ऐसा करते हुए उसे कभी समाज से कभी राजनीति से कभी निहित स्वार्थों से जूझना भी पड़ता है, और उनके लिए दंड भी झेलना पड़ता है। लेकिन चूंकि साहित्य में वह शक्ति है कि वह मानव–मन के गुहयतम अंत कोनों में अपनी लेखनी की तरलता से प्रवेश पर सके, इसलिए इन बाधाओं को दरकिनार करते हुए वह निरन्तर मनुष्य और समाज का विकास करता रहता है।

आज हम भौतिक विज्ञान की चरम उपलब्धियों से लैस हैं। पर विज्ञान का यह ताप मानव मन की कोमल भावनाओं को सुखा रहा है। क्योंकि विज्ञान ने आज उपलब्धियों के साथ–साथ ध्वंसात्मक प्रवृत्ति के ज्वालामुखी पर भी मनुष्य को बैठा दिया है, जिसका भविष्य भयंकर हो सकता है।

इसके विपरीत आज भी साहित्य, जीवन के मंगलविधान के लिए मनुष्य में जिस तरल संवेदन की आवश्यकता होती है, उसकी रक्षा कर रहा है अन्यथा बिना स्नेह–ममता–बंधुता औ मानव–गरिमा के मानवजाति का भविष्य केवल 'मरण पर्व' है।

गजानन माधव मुक्तिबोध का यह कथन कि 'साहित्य समाज के आगे–आगे चलनेवाली और जलनेवाली मशाल है' अत्यंत मार्मिक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्य और समाज अनुषंगी हैं एवं दोनों ही एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं। वे कैसे सही इतिहास की संरचना करते हैं; इसका बहुत ही रोचक उदाहरण वाल्मीकि की 'रामायण' एवं 'वेदव्यास' के 'महाभारत' हैं।

रामायण काल में आदर्श जीवन–मूल्य व्याप्त थे और एक भाई दूसरे के सिर पर राजमुकुट पहना रहा था। महाभारत काल में यांत्रिक सभ्यता के विकास के सर्वोत्कृष्ट और जीवन–मूल्यों के ह्रास का निकृष्टतम वर्णन है। रामायण काल में एक भाईभ्दूसरे भाई के सिर पर राजमुकुट पहना रहा था; जबकि महाभारत काल में एक भाई दूसरे भाई के सिर से राजमुकुट उतार कर स्वयं के सिर पर पहनने के लिए इतना लालयित हो गया था कि वह कुरूक्षेत्र– सरीखे नरसंहार का आयोजन कर बैठा।

हिंदी साहित्य के आदिकाल में चंदबरदाई का युद्धक्षेत्र में उपस्थित होकर पृथ्वीराज को अधर्मी को पराजित करने हेतु उकसाना, मनुष्य के विकास में साहित्य की प्रत्यक्ष महत्ता को स्थापित करता है।

भक्तिकाल में जब तत्कालीन राजनीति, लोगों में धर्म के नाम मतभेद और फूट पैदा कर रही थी। तब तुलसी, कबीर, रहीम, जायसी, सूर आदि कवि अपने साहित्य के माध्यम से लोगों में एकता का जागरण पैदा कर रहे थे। सिद्धों, भक्तों, नाथकवियों, या संतों के धर्म के जो भी माध्यम रहे हों, उनका काव्य लोक–जीवन और लोक–मूल्यों की अन्विति का काव्य था।

यह साहित्य की ही क्षमता थी कि अगर रीतिकाल में धर्म के केन्द्र से मानवीय रागात्मकता और मूल्याश्रित जीवन को उजागर किया गया, तो उसकी परिणतियाँ किसी पतनोन्मुख युग में न होकर आधुनिक युग के लिए प्रेरणादायी चेतना के रूप में हुई। भारतेन्दु युग का सामाजिक जागरण, रूढ़ियों से मुक्त होने की कामना और सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक पाखंडों पर प्रहार–मूल रूप से साहित्य के लोक–चरित्र और लोक–चेतना का ही अनवरत प्रवाह था।

राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के युग में रचनाकारों की वाणी ने परम्परा के श्रेष्ठ उपादानों के माध्यम से लोगों की आत्महीनता को दूर करते हुए उनके अंदर एक ऐसा ओजस्वी राष्ट्रीय भाव जगाया, जो तत्कालीन समय की आवश्यक मांग थी। मैथिलीशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'– जैसे राष्ट्रीय कवियों की वाणी जनता की ही वाणी थी।

छायावादी कवियों ने भी कविता और गद्य के माध्यम से भारतीय जन–मानस को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का बोध कराया और उनके भीतर सोए उच्च भावों को जागृत किया। कामायनी, राम की शक्ति पूजा, चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त, तुलसीदास, जागो फिर एकबार आदि ऐसी रचनाएं हैं, जो इतिहास के संदर्भों को, सामयिक संघर्ष को नई अर्थवत्ता भी देती हैं।

इतना ही नहीं, समकालीन समस्याएं, अंतर्बाधाएं और उत्पीड़न को भी इन रचनाकारों ने नई अर्थवत्ता दी और सदियों से मन में बैठी गुलामी से मुक्त होने का आह्वान किया। यह मनोवैज्ञानिक उपचार निश्चय ही महत्त्वपूर्ण था; क्योंकि बाहर की बेड़ियाँ तोड़ने से पहले जरूरी होता है भीतर की बेड़ियों को काटना। 'ध्रुवस्वामिनी' का पुरूष–उत्पीड़न से मुक्त होकर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व को घोषित करना या 'चतुरी चमार' और 'पगली'–जैसे चरित्रों का अपने विशिष्ठ व्यक्तित्व और संघर्ष द्वारा नये अर्थ में उजागर होना या तत्कालीन अकाल, भुखमरी और ग्रामीणों की समस्याओं का गद्य व कथा के माध्यम से समाज के सम्मुख अवतरित होना। यह दिखाता है कि किस तरह हमारा साहित्य जीवन की उत्कट समस्याओं और मानवीय संबंधों को नए ढंग से

परिभाषित कर रहा था।

प्रेमचंद युग के साहित्य ने ग्राम्य–जीवन और साधारण मनुष्य की यातनाओं के साथ उसकी उदात्तताओं का जो रूप प्रस्तुत किया, उसने साहित्य में परम्परागत रूप से चली रही नायक की अवधारणाओं को बदल दिया। उन्होंने अपनी संवेदनशील सशक्त लेखनी द्वारा प्रमाणित किया कि बड़े कुल या समृद्धि के बीच ही बड़े आदमी पैदा नहीं होते। बल्कि दरिद्रता व अभाव के बीच भी ऐसे इंसान पैदा होते हैं, जो नायक या महानायक बनने की क्षमता रखते हैं।

प्रेमचंद का 'गोदान', जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' और 'तितली'– जैसे प्रचण्ड आक्रामक और ग्राम्य–जीवन की नई रूप–रेखा प्रस्तुत करने वाले उपन्यास एवं निराला की 'भिखारी' और 'दान' –जैसी कविताओं को यदि हम देखें, तो हमें समाज के रचाव में साहित्य की भूमिका स्पष्ट नजर आएगी। आशय यह कि हिंदी साहित्य पर मार्क्सवाद के प्रभाव को मान्यता देते हुए भी हम यह स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि मानवीय की भावना के कारण हमारे रचनाकार स्वयं ही प्रगतिशील थे, किसी बाहरी प्रभाव के कारण नहीं।

समय की गति जैसे–जैसे तीव्र होती जाती है और विश्व का भूगोल सिमटने लगता है, वैसे–वैसे अनेक प्रकार की पारस्पारिक अंतः क्रियाएं होने लगती हैं। दुनिया का पास होना अब एक मुहावरा भर नहीं है। यह एक ऐसा ज्वलंत सत्य है जिससे इंकार करने का कोई औचित्य नहीं है। भारतीय जीवन, ज्ञान और साहित्य के अनेकानेक प्रभाव दूसरे देशों की रचनाओं पर पड़े हैं, पर साथ ही यह भी ठीक है कि स्वातंत्र्योत्तर काल में प्रभावों का प्रवाह पश्चिम की ओर से भी आया है। फिर भी एक बात हमें आश्वस्त करती है कि उन प्रवाहों में भारत बहा नहीं है। और इसका कारण उसकी भी परिपक्व मानसिकता और ठोस वैचारिक और मानवीय आधारभूमि है। जो गहराई से भारतीय मनुष्य में जमी है। उल्लेखनीय है कि इतने सारे वैचारिक संक्रमणों के बावजूद हमारा साहित्य अपनी जमीन और उसकी गंध से जुड़ा हुआ साहित्य है। किसी भी दौर में वह सरासर विदेशी नहीं हुआ, न ही अपने देश की मूल समस्याओं और परम्परा की उत्कृष्टता से विमुख हुआ है।

'अन्धायुग' हो या 'आत्मजयी' या 'मैयादास की माड़ी', 'झूठा सच' या 'अनामदास का पोथा' – सबके भीत आधुनिक चेतना के साथ परम्परा से उपलब्ध श्रेष्ठ तत्त्वों का समन्वय भी दिखाई देता है और एक ऐसा विखण्डन भी जो ऐतिहासिक प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है।

हमारे वर्तमान साहित्य में भी जो बहुत से नये और ताजा रचनाकारों द्वारा समृद्ध किया जा रहा है; जन–भाषा का जन–चरित्र और लोक–संस्कार विद्यमान है। आज के रचनाकारों के कथ्य और भाषा–शैली पर लोक–भाषा और लोक–जीवन की गहरी छाप है, जो इस बात को साबित करती है कि आज के साहित्य का अपनी विरासत से गहरा रिश्ता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पिछले समय में भारत की राजनीति और राजनीतिक दलों में कई तरह की संकीर्णताओं ने प्रवेश किया। कई बार तो ऐसा लगा कि कही हम अपने कठमुल्लापन, जातीय और प्रांतीय भेदभाव, आतंकवाद और शोषण प्रक्रियाओं के चलते वापस मध्य काल में तो नहीं लौट गए हैं ? यद्यपि यह एक अंतर्राष्ट्रीय प्रवृति दिखाई पड़ रही है, पर हमारा आशंकित होना स्वाभाविक है; क्योंकि हमने अतीत में इसे सच होते हुए भी देखा है।

आज के युग में सुमन, मुक्तिबोध, नागार्जुन, सर्वेश्वर दयाल, धूमिल आदि साहित्यकारों के साथ ही अनेकानेक साहित्यकारों ने सत्ता के खिलाफ अपना हस्तक्षेप दर्ज करवाया है और यह धारा आज के सारे लेखन के परोक्ष में कहीं न कहीं विद्यमान है। सामाजिक जटिलताओं और विषमताओं का गहन चित्रण आज का साहित्यकार कर रहा है; उससे कहीं न कहीं समाज में जागरूकता पैदा हो रही है।

यह हमारा सौभाग्य है कि हमारी साहित्यिक विरासत में जो गहरा आध्यात्मिक स्पर्श है; जो एक निरपेक्ष उदात्तता है; निरर्थक परम्पराओं और पाखंडों पर जो करारी चोट है; और समस्याओं की कठिन राहों से गुजर कर आशा और आस्था की नई दिशा का संधान है; वह किसी भी दिग्भ्रम के युग में, परिवेश बदल जाने पर भी निश्चय ही एक प्रकाश–स्तम्भ का काम कर सकती है; क्योंकि समस्याओं की शक्ल भले बदल जाए, चरित्रों, कथाओं या विषयों के भीतर निहित कथ्य मनुष्य को विवेक संगत अर्थ और दृष्टि देने में समर्थ होता है।

* * * *

सामाजिक न्याय की कसौटी और गांधी दर्शन*

डॉ0 पारमिता

आज के जमाने में भी विश्व के विभिन्न प्रांतों में मानवाधिकारों की रक्षा के आंदोलन में हगांधीजी का जीवन और संघर्ष एक महान प्रेरणा है । अमेरिका में कृ ष्णांग समुदाय के अधिकारों के लिए लड़ाई करने वाले मार्टिन लूथर किंग, दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला, अमेरिका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति बराक ओबामा या बर्मा में इक्कीस साल तक बंदी रहने के बाद हाल ही में मुक्त हुईं आंग सान सू की– सभी ने गांधीजी को अपना आदर्श माना । फ़िर भी वर्तमान समय में गांधी की के विचार कितने प्रासंगिक हैं, ये प्रश्न समय–समय पर उठता रहा है। इस संदर्भ में आवश्यकता ये है कि हम गांधीजी के विचारों को एक बार पुनः समझने का प्रयास करें। खासतौर पर, सामाजिक न्याय के विषय में उनकी धारणाओं का पुनरावलोकन जरूरी है ताकि समाज की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने में मदद मिले।

गांधीदर्शन अन्याय और शोषण की समप्ति शांतिपूर्ण व अंहिसात्मक उपाय द्वारा की करना चाहता है। भारत की आजादी इस बात का श्रेष्ठ उदाहरण है कि समाज या व्यवस्था को अहिंसात्मक आंदोलन से भी परिवर्तित किया जा सकता है। अहिंसा मानवीय स्वतंत्रता समानता तथा न्याय के प्रति गांधीजी की प्रतिबद्धता सावधानीपूर्वक व्यक्गित परीक्षण के बाद जीवन के सत्य से पैदा हुई थी। गांधीजी द्वारा निर्देशित अहिंसा का वही मार्ग आज के हिंसादीर्ण समाज लिए और भी अधिक उपयोगी प्रतीत होता है।

सामाजिक न्याय एवं उसकी मांग संबंधी अवधारणा आधुनिक युग की देन है। पीड़ित और पिछड़े वर्ग के लोगों को सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने की प्रक्रिया आधुनिक राष्ट्र के प्रमुख कार्यों में से एक माना जाता है। औद्योगिक क्रांति के समय

*गुवाहाटी (असम) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

से श्रमिकों के प्रति पूंजीपतियों के शोषण के विरोधस्वरूप इस अवधारणा का विकास हुआ। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मे श्रमिकों की अवस्था में सुधार लाने के उद्देश्य से विश्व भर में जो आंदोलन छेड़ा गया, सामाजिक न्याय की अवधारणा उसी पर आधारित है। उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में उपनिवेशी शासन के खिलाफ़ विश्व के विभिन्न प्रांतों में आवाजें उठीं और नए–नए स्वाधीन राष्ट्रों की स्थापना हुई। तभी राष्ट्र–व्यवस्था के तहत सामाजिक न्याय की प्रक्रिया को संवैधानिक प्रावधानों में शामिल किया गया। स्वतंत्र भारत में भी विकास के प्रयास सबंधित सभी कार्यक्रम सामाजिक न्याय की धारणा से प्रेरित रहे हैं, ताकि सभी वर्ग, वर्ण, जाति एवं धर्म के लोग अपनी–अपनी मानवीय स्थितियों में सुधार ला सकें।

समाज में मौजूद प्रत्येक वर्ग के लोगों की अंतर्निहित संभावनाओं को अभिव्यक्ति मिले और उनकी आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति की जा सके– सामाजिक न्याय का उदेश्य यही है। किंतु समय के साथ तकनीकी विकास के कारण सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों में बदलाव आते रहे हैं। मनुष्य की आवश्यकताएँ भी उसी के अनुरूप बदलती रही हैं। इसलिए न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हेतु प्रत्येक पीढ़ी बदलाव की माँग करती रही है। जिसके परिणामस्वरूप कई बार मौजूदा व्यवस्था परिवर्तनकामी शक्तियों के खिलाफ़ खड़ी हो जाती हैं। अपने–अपने को सही मानने का यही मतभेद उनके बीच हिंसा को उकसाता है। ऐसी संघर्षपूर्ण स्थितियों को संभालकर शांति कायम रखना कोई आसान बात नहीं थी। सामाजिक न्याय के लिए लड़ाई अहिंसा से लड़ी जाए, इसलिए गांधीजी मनुष्य जीवन में नैतिक गुणों के विकास जरूरी समझते थे। उनका यह अटूट विश्वास था कि भारत के लोगों के लिए स्वतंत्र एवं उच्च जीवन निर्माण हेतु सामजिक एवं नैतिक गुण आवश्यक ही नहीं बल्कि अपरिहार्य हैं। नैतिकता के आधार पर की गई लड़ाई में जीत अवश्य होगी– बापू का जीवन इस विश्वास पर आधारित रहा है।

गांधीजी मानवप्रेमी होने के साथ–साथ गहरे रूप में आध्यात्मिक और धार्मिक थे। वे परम्पराओं में विश्वास करते थे, लेकिन उनके विचार अभिनव और क्रांतिकारी थे। उनका मानना था कि धार्मिक भावना से संचालित व्यक्ति कभी किसी प्रकार का अन्याय सहन नहीं करता। जहाँ भी मानवता पर कोई अन्याय हो, नैतिकता और धर्म का तकाजा यही है कि तुरंत उसको मिटाने का प्रयास किया जाए। सामाजिक भेदभाव और संकीर्णता मिटाने की निरंतर कोशिश, अस्पृश्यता और जाति–पांति के बैर को जड़ से मिटाने के लिए सामाजिक आंदोलन और भारतीय समाज को एक साथ जोड़ने की

चेष्टा, गांधी दर्शन की धुरी है। अहिंसा एवं सत्याग्रह उनकी नैतिकता की अवधारणा के दो मुख्य पहलू रहे हैं और असहयोग, सामाजिक न्याय की लड़ाई का प्रमुख हथियार। तोलस्तॉय एक चिट्ठी में गांधीजी को लिखते हैं,"…. The passive resistance is a question of great importance not only for India but for the whole humanity". हालांकि आजादी की लड़ाई में कई बार असहयोग आंदोलन में हिंसा उतर आने के कारण गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन रद्द किया गया, पर यह आंदोलन भारतवासियों को एकजुट करने में सफ़ल रहा था।

गांधीजी का समग्र जीवन गरीबों और पीड़ितों को सामाजिक न्याय दिलाने के संघर्ष में बीता। दक्षिण अफ्रीका में जो लड़ाई अश्वेत नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रारंभ हुई, वह भारतवर्ष के स्वाधीनता संग्राम की पृष्ठभूमि थी। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधीजी को दो तरह की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। एक था विदेशी शासकों के शिकंजे से देश को आजाद करना, और दूसरी तरफ़ भारतीय समाज में पनपने वाली अंदरूनी बुराइयों को हटाना। भारत को अगर अंग्रेज़ी हुकूमत का सामना करना था तो यह जरूरी था कि मौजूदा भेदभावपूर्ण समाज को बदलकर आपसी संबंधों को सुधारा जाए। सदियों से चली आ रही अन्याय की प्रथाओं को बदलना या मिटाना कोई आसान काम नहीं था। त्याग और बलिदान के लिए लोगों को अनुप्राणित करने की गांधीजी की अद्भुत क्षमता और पिछड़े वर्गों के प्रति उनके प्रेम ने इस कठिन काम को आगे बढ़ाया। आजादी की उनकी लड़ाई अंग्रेज़ सरकार के विरुद्ध थी। साथ ही साथ, एक समतामूलक समाज की स्थापना के लिए भी।

इस उद्देश्य से समाज के उत्थान के लिए गांधीजी ने कुछ रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किए सांप्रदायिक एकता अस्पश्यता निवारण मद्यनिषेध खादी प्रचार ग्रोमोद्योग सफाई की शिक्षा बुनियादी तालीम हिंदी प्रचार अन्य भारतीय भाषाओं का विकास स्त्रियों की उन्नति स्वास्थ्य शिक्षा प्रौढ़ शिक्षा इसी प्रकार देशहित के लिए आर्थिक समानता कृषक संगठन श्रमिक संगठन विद्यार्थी संगठन और स्वतंत्रता तथा स्वराज के लिए निरंतर संघर्ष। स्वाधीनता के उपरांत स्वतंत्र भारत में, सभी को सम्मान के साथ जीने के अधिकार मिलें– यह गांधीजी का स्वप्न था। इस तरह से देखा जए तो गांधीजी का दर्शन और सामाजिक न्याय, इन दोनों में कोई अंतर नजर नहीं आता।

दुःखद बात यह है कि आज भी इस देश के अनेक प्रांतों में धर्म और जात–पाँत के नाम पर भेदभाव किया जाता है। आज भी एक ही धर्म के होने के वावजूद विभिन्न जाति व समुदायों के लोग गाँवों में अलग–अलग हिस्से में बसते है, अलग–अलग

मंदिरों में जाते है। यहाँ तक कि स्कूलों में सारे बच्चे एक–साथ बैठकर मिड–डे मील का खाना तक नहीं खाते। जाति–भेद की यह समस्या केवल हिंदुओं तक सीमित नहीं है, बल्कि मुस्लिम और सिख धर्मों में भी कायम है। अगर अलग–अलग जातियों के लड़के और लड़की एक–दूसरे से शादी कर लें तो उनकी जान खतरे में पड़ जाती है। संविधान में देश के सभी वर्ग के लोगों की समानता निश्चित की गई है, लेकिन आम आदमी अपना सामाजिक जीवन में जाति–विभेद कभी नहीं भूले।

देश में लागू आरक्षण और सकारात्मक विभेद की नीतियों से लाभ जरूर हुआ है । पर आजादी के इतने साल बाद इसी वजह से आज भी सरकारी तौर पर व्यक्ति की पहचान जाति के आधार पर ही होती है। अभी भी इस द्वैत को मिटाने का काम बाकी है। जब तक हम इन बुराइयों से आजाद नहीं होंगे, तब तक सही मायनों में एक स्वतंत्र और आधुनिक भारत का निर्माण संभव नहीं होगा।

गांधीजी मार्क्सवादी चिंतन से बेहद प्रभावित थे। वर्गहीन समाज की मार्क्सवादी धारणा उन्हें आकर्षित करती थी। राष्ट्रवादी चिंतकों के अनुसार साम्राज्यवादी शोषण के कारण अंग्रेज़ी शासन के दौरान भारत की आर्थिक स्थितियाँ दुर्दशापूर्ण हो गई। जिससे उबरने का एकमात्र उपाय था अंग्रेज़ी शासन से मुक्ति । जबकि मार्क्सवादी चिंतन के अनुसार इस दुर्दशा के मूल में भी पूंजीवादी शोषण है, जिससे समाज में आर्थिक असमानता और अन्याय पनपते हैं और वर्ग–संघर्ष ही इससे निपटने का इकलौता रास्ता है। पूंजीवादी एवं मार्क्सवादी, दोनों अर्थव्यवस्थाएँ मशीन–निर्भर अति–उत्पादन पर टिकी हुई हैं । जबकि पूंजीवादी व्यवस्था अन्याय और हिंसापूर्ण शोषण के बल पर चलती है, मार्क्सवाद इससे उद्भूत परिस्थितियों से मुक्ति पाने के लिए हिंसक उपाय अपनाने की बात करता है। हिंसाअ के मामले में पूंजीवाद एवं मार्क्सवाद में शायद ही कोई अंतर है।

किंतु गांधीजी की विचार कुछ अलग था । उनका मानना था कि भारत की आर्थिक दुर्दशा का कारण था शहरी विकास के दौरान ग्राम–निर्भर अर्थव्यवस्था का विनाश। यह उनके लिए शहर द्वारा गाँवों का शोषण था। वे मानते थे कि भारत में ऐसी उत्पादन–व्यवस्था की जरूरत है, जिसमें ज्यादा–से–ज्यादा लोगों को काम मिले एवं आत्मनिर्भर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हो। गांधीजी चाहते थे कि हर हाथ को काम मिले बेकारी नहीं। आदमी के पास ऐसे औजार होने चाहिए जिस पर सही अर्थों में उसका नियंत्रण हो। यंत्र यदि व्यक्ति के काम को छीनकर पंगु बनाता है तो वह गांधी को स्वीकार्य नहीं। चरखे का संदेश है नियंत्रण योग्य मशीनें और गांव शासन।

गांधीजी के लिए चरखा श्रम की मर्यादा का भी प्रतीक था। वे मशीनी–उत्पादन और औद्योगिकीकरण के विरोधी थे। इसके लिए प्रायः उनकी आलोचना भी की जाती है। गांधीजी ने 1909 में रचित अपनी पुस्तक हिंद स्वराज में आधुनिक सभ्यता को नकारा था। वस्तुतः आधुनिक सभ्यता के बारे में उनकी नकारात्मक भावना कभी नहीं बदली। लेकिन उस समय जबकि पिछड़े मुल्कों के अधिकतर देश शीघ्र औद्योगिक विकास के लिए प्रयासरत थे, गांधीजी द्वारा आधुनिक सभ्यता और आधुनिक तकनीकी विकास से विरोध को स्वाधीन भारत की विकास नीति का समर्थन नहीं मिला। भूमण्डलीकरण के इस दौर में विश्वभर में बेकारी की समस्या प्रकट होती दिख रही है। चारों ओर आर्थिक असमानता लगातार बढ़ती जा रही है।आज हर किसी का मानना है कि, श्प्रत्येकहाथ को कामश्सामाजिक न्याय की स्थापना के संदर्भ में प्राथमिक शर्त है।

वस्तुतः गांधीजी अनियंत्रित विकास के विरोधी थे। गांधी सिद्धांत अनुसार रहन सहन में सादगी और कमखर्ची की बात आज के जमाने में कोई मानने के लिए भले ही तैयार न हो लेकिन जब भी सभी मनुष्यों के लिए अच्छा रहन सहन नीतियों का एक आवश्यक लक्ष्य हो और साधन सीमित हो तो सादगी अनिवार्य लगती है। मानव अपनी प्रगति और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृति का अत्याधिक शोषण दोहन और प्र्यावरण की तबाही में लगा है। यदि हम पिछले सौ वर्षों के विकास और विनाश का अध्ययन करें तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सचमुच यंत्रों ने इस सभ्यता को विनाश के मुहाने पर ला खड़ा किया है। अगर आगामी समय में समाज के हरेक वर्ग को विकास का सुफल चाहिए तो सबके लिए अपनी आवश्यकताएँ सीमित करना बहुत जरूरी है। पृथ्वी के पास हमारी आवश्यकताओं के लिए ही पर्याप्त संपदा है न कि हमारे लोभ के लिए गांधीजी द्वारा कही यह बात पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति हमारा ध्यान आकर्षित करती है और हमें विकास के वैकल्पिक पथ के बारे में सोचने के लिए मजबूर करती है।

* * * *

मानव अधिकारों के संरक्षण व संबर्धन में पत्र–पत्रिकाओं की भूमिका*

राकेशरेणु

हाल ही में जारी दो सर्वे–रिपोर्टों की ओर आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। इनसे आप में से ज्यादातर लोग अवगत होंगे। पहली रिपोर्ट इसी साल अगस्त के आखिर में जारी नेशनल रीडरशिप सर्वे की है जिसमें कहा गया है कि देश के 10 सबसे अधिक प्रसारित समाचारपत्रों में एक भी अंग्रेजी अखबार नहीं है। इन 10 अखबारों में पांच पत्र हिंदी के हैं और बाकी पांच अन्य भारतीय भाषाओं के। दूसरी रिपोर्ट बीबीसी नयूज द्वारा जारी एक सर्वे की है। एनओपी वर्ल्ड कल्चर स्कोर इंडेक्स नामक इस रिपोर्ट में कहा गया है कि भारतवासी दुनिया के पढ़ाकू या किताबी कीड़े हैं और औसतन प्रत्येक भारतीय हफ्ते में पौने ग्यारह घंटे पढ़ने में लगाता है। अब इन दोनों रिपोर्टों को एक जगह रखकर कोई निष्कर्ष निकालने की कोशिश करें तो क्या तस्वीर बनती है ? पहली तो एक कि लाख शोर–गुल के बावजूद भारतीय लोग अब भी टीवी पर ज्यादा समय नहीं बिताते हैं और छपे हुए पाठ को अधिक विश्वसनीय मानते हैं। दूसरी, और ज्यादा महत्वपूर्ण बात जो सामने आती है, वह यह कि इन पढ़ाकू लोगों में ज्यादातर वे हैं जो भारतीय भाषाओं के पाठक हैं और महानगरों में नहीं छोटे शहरों–कस्बों–गांवों में रहने वाले हैं।

इस तस्वीर के मद्देनजर हिंदी और भारतीय भाषाओं पर भारी जिम्मेदारी आ पड़ती है कि वे वस्तुनिष्ठता बनाए रखें, किसी खास समूह, वाद या विचारधारा का पल्लू पकड़ने की बजाय निरपेक्ष दृष्टि साधे रखें, बाजार और उपभोक्ता संस्कृति का साथ निभाने की मजबूरी के बीच सकारात्मक और समाज को जोड़ने वाली घटनाओं,

*हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश) में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में पढ़ा गया आलेख

समाचारों को प्रमुखता दें और नित घट रही मानवाधिकार हनन की घटनाओं की कवरेज़ के क्रम में पाठकों को उनके अधिकारों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक पहलुओं से अवगत कराते चलें।

हम जानते हैं कि मानव अधिकारों के दायरे में जीवन के प्रायः सभी क्षेत्र आते हैं। हमारी सामाजिक, राजनीतिक, नागरिक और आर्थिक व्यवस्था के मानवीय लक्ष्य मानवाधिकार ही निर्धारित करते हैं; और उन्हें ही निर्धारित करना चाहिए। इस तरह, प्रत्येक सार्वजनिक या सामाजिक घटना, शासन–व्यवस्था द्वारा लिया जाने वाला प्रत्येक निर्णय, नीति और कार्यक्रम मानवाधिकारों के दायरे में आते हैं। हिंदी की पत्र–पत्रिकाएं और पत्रकार मानव अधिकारों के इस क्षेत्र विस्तार से अच्छी तरह वाकिफ हैं जिसकी वजह से अधिकारों से जुड़े मुद्दों को व्यापक कवरेज़ भी मिल रहा है। यहां रोज़गार गारंटी कार्यक्रम और सूचना के अधिकार को मिले व्यापक कवरेज़ का उल्लेख करना होगा। आज ये दोनों कानून का रूप ले चुके हैं, लेकिन उनका कितना अनुपालन हो रहा है और कितना उल्लंघन; यह समाचार और विश्लेषण का विषय हमेशा बना रहेगा। इसी तरह, महिला अधिकारों के हनन के तमाम मामलों को अखबारों ने प्रमुखता दी है। हाल ही में बने महिलाओं पर घरेलू हिंसा विरोधी कानून और उसके आलोक में दर्ज़ शिकायतों को भी समाचारपत्रों ने उठाया है। रोजगार गारंटी कार्यक्रम और सूचना के अधिकार को कानूनी हैसियत दिलाने के लिये जिन लोगों और संगठनों ने वर्षों मेहनत की, हिंदी और भाषायी पत्र–पत्रिकाएं उन्हें भी लगातार कवरेज़ और ताकत प्रदान करते रहे।

दरअसल, भारतीय परिप्रेक्ष्य में संचार माध्यमों को ताकत स्वाधीनता आंदोलन से मिलती है जहां न केवल उनकी जड़ें स्थित हैं, बल्कि जहां से उनका उद्‌गम भी हुआ। आजादी की लड़ाई के दिनों से ही पत्र–पत्रिकाओं का स्वयंसेवी संगठनों से भी गहरा नाता बना रहा, जो स्वाधीनता के बड़े और व्यापक आंदोलन के भीतर विभिन्न सामाजिक सुधारों, लड़ाइयों; मसलन सती प्रथा का उन्मूलन, जाति–भेद और छुआछूत उन्मूलन सहित विभिन्न मानवाधिकारों की लड़ाई लड़ रहे थे। पत्र–पत्रिकाएं इन छोटी–बड़ी लड़ाइयों का संदेशवाहक थीं और इनके संपादक–प्रकाशक स्वयं इनसे सक्रियता से जुड़े थे। इस पृष्ठभूमि से निकले हुए संचार माध्यम आज भी स्वयंसेवी संगठनों के साथ रचनात्मक सहकार बनाए हुए हैं और मानवाधिकारों के प्रसंग को परिप्रेक्ष्य और प्रसार दे रहे हैं।

लेकिन यह तस्वीर का एक पहलू है जो काफी सीधा–सरल है। तस्वीर का दूसरा पहलू किंचित जटिल है। उपभोक्तावाद का वर्चस्व समूचे विश्वग्राम में देखा जा सकता है। बीते डेढ़ दशक में इसने भारतीय समाज को भी अपने पाश में ले लिया है। फलतः संचार माध्यमों और कर्मियों पर व्यावसायिकता और कैरियरिज्म हावी हो चुका है। व्यावसायिकता और कैरियरिज्म के दबाव में प्रायः समाचार पत्र, और पत्रकार भी, मालिकानों के व्यावसायिक, राजनीतिक और वैचारिक हितसाधन का उपकरण बन जाते हैं। अनेक मर्तबा खबर सनसनीखेज बनाने के लिये उन्हें असंगत अथवा गलत रंग दे दिया जाता है अथवा अनुचित रूप से अधिक कवरेज दिया जाता है।

एक दूसरा उदाहरण दूं। सर्वोच्च न्यायालय ने डी.के.बसु मामले में यह व्यवस्था दी कि विचारधीन कैदियों को हथकड़ी पहनाना उनके मानवाधिकारों का हनन है। बावजूद इसके हम जानते है कि विचाराधीन कैदियों को खुलेआम हथकड़ी पहनाई जाती है। अज्ञानतावश, या अति उत्साह में या, खबर को सनसनी देने के लिये हम उनकी तस्वीरें भी छाप देते हैं। बेहतर तो यह है कि हम ऐसी तस्वीरें न छापें। यदि हम उन्हें छाप ही रहें तो कैप्शन अथवा खबर में न्यायालय की व्यवस्था का जिक्र करते हुए बताएं कि यह पुलिस अत्याचार और मानवाधिकार हनन की एक बानगी है।

पिछले एक–डेढ़ दशक में पत्र–पत्रिकाओं में एक चिंताजनक परिवर्तन यह आया है कि उनमें धार्मिक कवरेज बढ़ गई है। यह परिवर्तन भाषायी पत्र–पत्रिकाओं में अधिक हुआ है। कुछ मीडियाकर्मियों का तर्क है कि पाठक इसके बारे में पढ़ना चाहते है। लेकिन इस तर्क की सच्चाई से हम सब वाफिक हैं। अव्वल तो तीर्थस्थलों और विभिन्न धार्मिक उपक्रमों पर फीचर लेख समाचार नहीं है, दूसरे यह पत्र और पत्रकारिता की निरपेक्ष छवि के विपरीत है। धार्मिक बहुलता वाले भारतीय समाज में यदि कोई समाचार पत्र किसी एक धर्म के बारे में बार–बार छापे तो यह और भी खतरनाक है। हिंदी में इसका परिणाम यह हुआ कि वह हिंदुओं की भाषा मान ली गई है। उर्दू मुसलमानों की भाषा हो गई है। एक धर्मनिरपेक्ष समाज में धार्मिक कवरेज से सामजिक ताने–बाने के धर्म के आधार पर विभाजन के खतरे भी निहित हैं। इसलिये इनसे जितना अधिक बचा जाए, उतना बेहतर।

कुछ बातें पत्र–पत्रिकाओं के अंदरूनी जनतंत्र और मानवाधिकारों की स्थिति के बारे में। कहा जाता है कि पत्रकारिता में अच्छी संख्या में महिलाएं हैं। संवैधानिक रूप से लिंग आधारित भेदभाव नहीं है। लेकिन व्यवहार में, महिलाएं काम और वेतन

दोनों के मामले में भेदभाव का शिकार होती हैं। इस स्थिति से निबटने के लिये हाल ही में हरियाणा के मानेसर में इंटरनेशनल फेडरेशन ऑफ जर्नलिस्ट्स के एक सम्मेलन में महिला पत्रकारों के लिये एक जेंडर काउंसिल गठित करने का निर्णय लिया गया। इस निर्णय में पत्रकार संगठनों की अहम भूमिकाा रही। लेकिन यह काउंसिल कितना और कैसे काम करता है, यह भी अभी देखा जाना है। पुरूषवादी दृष्टि केवल समाचार कवरेज़ तक ही सीमित नहीं है। विज्ञापनों और फीचर लेखों के साथ छपने वाले रंगीन छाया भी इस सोच का हिस्सा हैं।

दोस्तों, बात मैंने अखबारों के अंदरूनी जनतंत्र से शुरू की थी। महिला पत्रकारों से जुड़े मामले उसका महज एक पहलू है। दूसरा महत्पूर्ण पहलू दलितों से जुड़ा है। संचार माध्यमों के भीतर दलित पत्रकारों की संख्या के बारे में कोई प्रामाणिक आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। बावजूद इसके, यह भी सर्वमान्य है कि संचार माध्यमों सहित समस्त निजी क्षेत्र में सवर्ण जातियों और समाज के उच्च–मध्य तथा मध्यवर्ग का वर्चस्व है। इसका परिणाम क्या हो रहा हैं ? हम पाते हैं कि आरक्षण का विरोध कर रहे खाते–पीते घरों के मुट्ठीभर बच्चों की खबरें मुख्य समाचार बन जाता हैं, मानो देश के सभी छात्र–छात्राओं का मिजाज वही हो। दरअसल आरक्षण का मुद्दा रोजगार से, और रोजगार व्यक्ति की आर्थिक स्थिति और सामजिक हैसियत से जुड़ा है। इसलिये, दलित अधिकारों के पैरोकार भी तक अपने वर्ग के लिये सुरक्षित जमीन का बंटवारा होते देखते हैं, तो उन्हें वह स्वीकार नहीं कर पाते।

अंदरूनी जनतंत्र का अन्य पहलू पिछले सालों में खूब चलन में आई ठेकेदारी प्रथा से जुड़ता है। पिछली एनडीए सरकार ने श्रम सुधारों के नाम पर अन्य क्षेत्रों की तरह पत्रकारिता में भी ठेकेदारी प्रथा को व्यापक मान्यता दी। फलस्वरूप जो नये पत्रकार अब नौकरी करने आ रहे हैं उन्हें प्रायः एकमुश्त राशि दे दी जाती है। किसी किस्म का सेवा लाभ नहीं। कई बार यह एकमुश्त राशि उतनी भी नहीं होती जितने पर उनसे हस्ताक्षर कराया जाता है। एक समाचारपत्र समूह से पिछले दिनों एक साथ दर्जनभर पत्रकारों को निकाल दिया गया। और इनमें से एक भी पत्रकार नौसिखुआ नहीं थे, सभी स्थापित नाम थे। जानकारों की मानें तो इस समूह में नौकरी शुरू करने के साथ ही इस्तीफे पर हस्ताक्षर करा लिया जाता है। जैसे ही प्रबंधन ने यह समझा कि आप उनके लिये उपयोगी नहीं रहे, इस्तीफे में तारीख डाल आपको उसकी सूचना दे दी जाती है। लेकिन देखिये कि अखबारों के भीतर मानवाधिकार हनन के ये मामले

कहां और कितना बाहर आ पाते हैं ? आपने जैसे ये मुद्दे उठाए, इस्तीफे पर तारीख डली। 'हायर एंड फायर' नीति के तहत ठेके पर आए पत्रकारों के लिये तो यह औपचारिकता भी वांछित नहीं। यह स्थिति कब तक जारी रहेगी ? इससे निजात पाने के लिये पत्रकार संगठनों के साथ राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग को भी आगे आना होगा।

* * *

रचनाकारों के पते

डॉ. सुभाष शर्मा, आई.ए.एस.
डी–71, निवेदिता कुंज,
सैक्टर–10, आर. के. पुरम,
नई दिल्ली–110022

डॉ. वाई.पी. आनंद
513, पॉकेट–सी, सेक्टर–ए,
वसंतकुन्ज, नई दिल्ली–110070
दूरभाष : (011) 26898913
मो. : 09312700812

प्रो. हजारीमयुग सुवदनी देवी
हिन्दी विभाग, मणिपुर विश्वविद्यालय,
काँचीपुर, इम्फाल – 795003 (मणिपुर)

डॉ. प्रतिभा
रीडर, इतिहास विभाग,
मोहनलाल सुखड़िया, विश्वविद्यालय
उदयपुर – 313001 (राजस्थान)

डॉ. विनोद शुक्ल
अध्यक्ष, भूगोल विभाग,
एम.डी.पी.जी. कॉलेज,
प्रतापगढ़–230001 (उ.प्र.)
मो. 09450189177

सुश्री आकांक्षा पारे 'काशिव'
फीचर संपादक आउटलुक (हिन्दी)
एबी–6, सफदर जंग एनक्लेव,
नई दिल्ली – 110029
मो. – 09990986868

डॉ. (श्रीमती) ममता चंद्रशेखर
एफ–11, रेडियो कॉलोनी,
आकाशवाणी विहार के सामने,
इंदौर – 452001 (मध्य प्रदेश)
मो. – 09977993310

श्री राजेश प्रताप सिंह, आई.पी.एस.
महानिरीक्षक (जेल), उत्तर प्रदेश शासन,
पिकप भवन, विभूतिखंड, गोमतीनगर,
लखनऊ – 230010 (उ. प्र.)

श्री वैजनाथ मिश्रा
मीडिया एलेवन प्राइवेट लिमिटेड
प्रथम तल, मागल टावर
एचवी–रोड कान्ताटोली
रांची – 834001
फोन : 0651–2532311
फैक्स : 094315972701

प्रो. योगेश अटल
बी–502, रेजीडेन्सी टावर
आर्डीसिटी सेक्टर–52
गुडगांव–122003 (हरियाणा)

सुश्री सर्वमित्रा सुरजन
संपादक, अक्षर पर्व,
पांचवी मंजिल
आई. एन.एस. बिल्डिंग,
रफी मार्ग,
नई दिल्ली–110001

डॉ (श्रीमती) स्वाति तिवारी
ई एन 1/9 चार इमली,
भोपाल – 462016
(मध्य प्रदेश)

श्रीमती लक्ष्मी सिंह,
फ्लैट नं. – 6 बी,
साथी अर्पाटमेंन्ट्स, श्रद्वानंद रोड,
अपर बाजार, रांची–834001
(झारखंड)

श्री राकेशरेणु
बी–339, केंद्रीय विहार,
सेक्टर–51,
नोएडा (उ.प्र.) – 201307

डॉ. अमरनाथ 'अमर',
प्रोड्यूसर, दूरदर्शन,
61–एफ, सेक्टर–IV,
बंगला साहिब रोड,
गोल मार्किट, नई दिल्ली–110001
मो. – 09818355106

सुश्री तरूशिखा सुरजन
206, हाईलेंड सोसाइटी, वसुंधरा एक्लेव,
नई दिल्ली – 110096
मो. : 09868064895

डॉ. अनीता सिंह
द्वारा डॉ. प्रमोद सिंह
पृथ्वी विज्ञान विभाग
पांडिचेरी यूनिवर्सिटी
पांडिचेरी–605014

प्रो. अरूणेश 'नीरन'
देवरिया खास,
देवरिया (उ.प्र.) – 274001
मो. : 09451460030

डॉ. कुमुद शर्मा
188, नेशनल मीडिया सेंटर,
शंकर चौक, एन.एच.–8,
गुड़गाँव (हरियाणा) – 122002
मो. : 09811719898

प्रो. शंभुनाथ
389, जी.टी. रोड,
हावड़ा–711106
मो. : 09007757887

डॉ. सरोज कुमार वर्मा
06, व्याख्याता आवास, खबड़ा रोड,
विश्वविद्यालय परिसर,
मुजफ्फरपुर (बिहार) – 842001
दूरभाष : 0621–2243090
मो. – 09835856030

डॉ. कुसुम खेमानी
भारतीय भाषा परिषद
36ए, शेक्सपियर सरणि
सर्कस एवेन्यू,
कोलकाता–700017

डॉ. पारमिता साहा
एसोसिएट प्रोफेसर
डिपार्टमेंट ऑफ इकोनोमिक्स
यूनिवर्सिटी ऑफ त्रिपुरा
अगरतला (त्रिपुरा)–799001

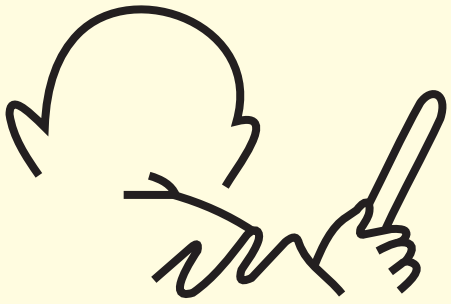

गांधीजी का जन्तर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा? यानि क्या उससे उन करोड़ो लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूंखे हैं और आत्मा अतृप्त है?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

—महात्मा गाँधी

सर्वे
भवन्तु सुखिनः

राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग
फरीदकोट हाऊस, कॉपरनिकस मार्ग, नई दिल्ली–110001